मुद्रक :—
श्री जैनोदय प्रिन्टिङ्ग प्रेस,
चौमुखीपुल रतलाम

युगत्रये पूर्वमतीतपूर्वे,
जातास्तु जाता खलु धर्ममल्ला।
अयं चतुर्थो भवताच्चतुर्थे,
धात्रेति सृष्टोऽस्ति चतुर्थमल्लः॥

# सहायकगण की शुभ नामावली
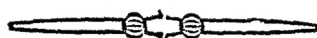
दिवाकर दिव्य ज्योति के नाम से स्व० श्री जैन दिवाकर प्रसिद्ध वक्ता पंडित रत्न मुनि श्री चौथमलजी महाराज के प्रभावशाली व्याख्यान सीरिज रूप में प्रकाशित कराने के लिए निम्नलिखित महानुभावों ने सहायता देकर अपूर्व लाभ लिया, इसके रूपयेः—

१००१) श्री श्वे. स्था. जैन महावीर मण्डल, उदयपुर
५०१) श्रीमान् सेठ सिरेमलजी नन्दलालजी पितलिया, सिहोर की छावनी
५००) श्रीमान् सेठ गुलराजजी पूनमचन्दजी, मदनगंज
३००) ,, ,, चौथमलजी सुराणा, नाथद्वारा
२५०) ,, ,, कुंवर मदनलालजी संचेती, ब्यावर
,, ,, सेठ जीवराजजी कोठारी नसीराबाद
२०१) ,, ,, साहबलालजी मेहता फर्म गुलाबचंद भंवरलाल मेहता धानमन्डी, उदयपुर
२००) ,, ,, शंभूमलजी गंगारामजी बंबई फर्म की तरफ से श्रीमान् सेठ केवलचंदजीसा. चौपड़ा सोजत सोटी
१५१) ,, ,, चंदनलालजी मरलेचा शूलाबजार, बगलोर कैंट
१५१) ,, ,, गेंदालालजी मोतीलालजी सा. पोरवाड़ इन्दौर

१५१ श्रीमान् सेठ हजारीमलजी चम्पालालजी सगरावत
मु० निम्बाहेड़ा ( राज. )

१५०) ,, ,, राजमलजी नन्दलालजी, भुसावल

१५०) ,, ,, हस्तीमलजी जेठमलजी, जोधपुर

१२१) ,, ,, कन्हैयालालजी कोटेचा की धर्मपत्नी सौभाग्यवती सूरजबाई कोटेचा फर्म कन्हैयालाल चाँदमल कोटेचा, बोदवड़ ( पू खा. )

१२५) ,, ,, जिनगर अमरचन्दजी इन्दरमलजी गोतमचंदजी जैन गंगापुर

१२५) ,, ,, कस्तूरचन्दजी पूनमचन्दजी जैन, गंगापुर

१२५) ,, ,, ठेकेदार तोलारामजी भंवरलालजी, उदयपुर

१२५) ,, ,, धनराजजी फतहलालजी, उदयपुर

१२५) श्रीमती सौभाग्यवती तारादेवीबाई कोटेचा,
फर्म श्रीमान् सेठ मांगीलालजी केसरीचंदजी कोटेचा,
भुसावल (पू० खा०)

१०१) श्रीमान सेठ रंगलालजी झामड़ नादूंरा वालों की धर्मपत्नी श्रीमती सौभाग्यवती तुलसीबाई नादूंरा (बरार)

१०१) श्रीमान जिनगर तेजमलजी रोशनलालजी गंगापुर (मेवाड़)

१०१) ,, पन्नालालजी बाफणा की पूज्य मातेश्वरी मोहनबाई उदयपुर

१०१) श्रीमान सेठ मोतीचन्दजी रतनचन्दजी चोरड़िया
मु० कटंगी (बालाघाट)

१०१) ,, ,, गणेशलालजी भँवरलाल पंसारी कोटा

१०१) ,, ,, अमोलकचंदजी बोहरा
फर्म रखबचन्दजी लालचन्दजी जैन, रामगंज मंडी

१०१) श्रीमान सेठ जसराजजी मोहनलालजी बोहरा,
मु० सोरापुर भंडार

१०१) श्रीमान सेठ सूरजमलजी सा० बोथरा
फर्म कन्हैयालालजी इन्दरमलजी जैन,
मु० रामगंज मन्डी

१०१) सौ० पार्वतीबाई फर्म उत्तमचंद नवलचन्द एन्ड सन्स
बरड़िया जलगांव (पू० खा०)

१०१) श्रीमान सेठ रतनलालजी गांग के सुपुत्र पोपटलालजी की
धर्मपत्नी श्रीमती शान्तिबाई मु० चींचखेड़ा
ता. जामनेर पो. फतहपुर ( पू. खा. )

१०१) श्रीमान सेठ गणेशमलजी छत्तीसा बोहरा की धर्मपत्नी
श्रीमती सौ. पानबाई, खामगांव

१०१) ,, ,, मगनीरामजी हणुमतमलजी झामड़ तर्फे
श्रीमान उत्तमचन्दजी रतनलालजी झामड़
मु० खामगांव (बरार)

१०१) ,, ,, रामचन्द्रजी बोथरा अपने स्व० पूज्य पिताश्री
सेठ घासीरामजी की स्मृति में तांदली (बरार)

१०१) ,, ,, धनराजजी हीरालालजी जैन खटोड़ मेड़सी
वाला, मु० पो० अकोला (बरार)

१०१) ,, ,, रामानन्दजी मोतीलालजी जांगड़ा धामणगांव
बरोरा (म. प्र.)

१०१) ,, ,, मांगीलालजी चोरड़िया की धर्मपत्नी
श्रीमती राजीबाई वरोरा (म. प्र.)

१०१) ,, ,, भेरूलालजी अणतमलजी वरोरा (म. प्र.)

१०१) ,, ,, सागरमलजी राजमलजी बोहरा
चन्दनखेड़ा वाला वरोरा (म. प्र.)

१०१) श्रीमान् सेठ गणेशमलजी गुलाबचंदजी गोठी वरोरा (म.प्र.)

१०१) ,, मोहनलालजी मदनलालजी कोटेचा,
अड़ेगांव वाला (वणी) बरार

१०१) ,, बालचंदजी ताराचंदजी कोटेचा. मु० वणी (बरार)

१०१) ,, चुन्नीलालजी के सुपुत्र स्व. पानमलजी चोरड़िया, की धर्मपत्नी श्री ताराबाई मु० वणी (बरार)

१०१) ,, मुलतानमलजी बलवन्तरामजी खींचा मु० सावरगांव (बरार)

१००) ,, प्राणलालजी सा. 'सांखला, उदयपुर

१२१) ,, माणकचन्दजी छगनलालजी गोठी, जयपुर

१०१) ,, जवाहरमलजी मुल्तानमलजी बम्ब, भुसावल

१०१) ,, हीरालालजी मोतीलालजी धानेचा बोहरा, खामगांव

१०१) ,, मिश्रीमलजी पारसमलजी कातरेला, बैंगलोर सिटी

१०१) ,, कन्हैयालालजी बच्छराजजी सुरांणा, बागलकोट

१०१) ,, नवरतनमलजी सिंघवी फूलियाकलां

१००) ,, मन्नालालजी भेरूलालजी पोरवाड़, राजाखेड़ी वाला, मन्दसौर

# प्रधान मंत्रीजी म. का अभिप्राय
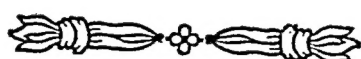
आत्म-विकास और जीवन प्रगति का सुन्दर एवं सरल मार्ग है-सन्त समागम, महापुरुषों के द्वारा उपदिष्ट वाणी का श्रवण और चिन्तन-मनन करते हुए मार्ग पर गति करना। जो महापुरुष इस भौतिकवाद से भरी-पूरी और अज्ञान अन्धकार एवं विकारों से परिप्लावित संसार अटवी में-अध्यात्मिक ज्ञानालोक का साक्षात्कार पा चुके हैं, उनके अन्तर हृदय से प्रस्फुटित उद्‌गार और स्नेह-रस झरित वचनामृत, वर्तमान युग के साधक के लिए ज्योति-स्तम्भ रूप है और उससे हम अपने जीवन-निर्माण में अलभ्य लाभ प्राप्त कर सकते हैं।

प्राणी-जगत के विकास में सन्तों का महत्त्व पूर्ण हाथ रहा है। उनके दिव्य-प्रकाश से प्रकाशमान होकर अनन्त प्राणियों ने अपना हित साधा है और साधते जा रहे हैं। मनुज में मनुजत्त्व, इन्सानियत, अमरत्व और ईश्वरत्व का साक्षात्कार कराने वाले संत-सत्पुरुष ही होते हैं। सन्तों का हृदय उदार एवं विराट् होता है। उनके जीवन में जाति, देश और सम्प्रदाय भेद की भित्तिका नहीं होती है और न घृणित तथा संकीर्ण मनोभावना ही होती है। उनके अन्तर मानस में समस्त प्राणी-जगत के हित की दिव्य एवं भव्य भावना लहराती रहती है और वे प्रतिक्षण स्व और पर के हित साधन में लगे रहते हैं।

स्व. प्रसिद्ध वक्ता, जैन दिवाकर श्री चौथमलजी म. सा. उन सन्तो में से थे, जिन्होंने अपना जीवन आत्म-साधना में लगा रक्खा था। उनकी व्याख्यान शैली और बोलने की कला अपने ढंग की निराली ही थी। गहन से गहन विषय को भी सुगमता से जन-जन के हृदय में ठसा देने की उनके जीवन में अद्भुत शक्ति थी। जिससे श्रोता के हृदय पर सीधा असर होता और वे त्याग-प्रत्याख्यान की ओर कदम उठाते थे। आपके उपदेशों से अनेक राजा महाराजाओं ने मूक जीवों की रक्षा करके अभयदान दिया था।

श्री स्व. दिवाकरजी म. के प्रवचन सर्वजनोपयोगी होते थे, आबाल-वृद्ध सभी जन उनके उपदेशों से लाभ उठाते थे। आप उर्दू, फारसी एवं हिन्दी भाषा के भी अच्छे ज्ञाता थे।

दिवाकर दिव्य-ज्योति उसी महापुरुष के अन्तर हृदय से प्रस्फुटित वाणी का संकलन है। इसके बारह भाग पहले पाठकों के हाथ में पहुँच कर भव्य प्राणियों को मार्ग दिखा रहे हैं। यह तेरहवाँ भाग भी अपना विशेष महत्त्व रखता है। आशा है पाठक वृन्द आचरण के क्षेत्र में मूर्त रूप देकर अपने जीवन का विकास करेंगे।

ता. ७-१-५६<br>कुन्दन भवन<br>ब्यावर

श्री वर्द्ध. स्था. जैन श्रमण संघ के प्रधान मंत्री<br>श्री आनन्द ऋषिजी म. सा. की आज्ञा से<br>—भानु ऋषि 'शास्त्री'

# विषयानुक्रमणिका

श्रीमान् मास्टर नवरतनमलजी संघवी

फुलिया कलां

# पुण्यपथ और पापपथ

स्तुतिः—

यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं,
निर्मापितस्त्रिभुवनैकललामभूत, ।
तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां,
यत्ते समानमपरं न हि रूपमस्ति ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभ-देव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! आपके कहाँ तक गुण गाये जाएँ ?

हे नाभिनन्दन ! हे वीतराग देव ! जिन सुन्दरतम परमाणुओं से आपके शरीर का निर्माण हुआ है, जान पड़ता है वह परमाणु जगत् में उतने ही थे। हे तीन लोक में अद्वितीय सुन्दर भगवान् ! अगर वैसे परमाणु और भी होते तो आप सरीखा रूप किसी

दूसरे में भी दिखाई देता ! मगर तीर्थंकर भगवान् के समान रूप सौन्दर्य अन्यत्र कहीं भी नहीं दीख पड़ता, इससे यही अनुमान होता है कि वह सुन्दर परमाणु संसार में उतने ही थे।

भाइयो ! संसार में नाना प्रकार के रूप देखे जाते हैं। किसी का रूप ऐसा सुन्दर, सौम्य, सात्विक और मधुर होता है कि उसे देखकर शान्ति प्राप्त होती है और किसी के रूप को देखकर दूसरों के चित्त में विकार उत्पन्न होता है, दुर्भावना या घृणा पैदा होती है। इसका कारण क्या है ? इसका एक मात्र प्रधान कारण पुण्य और पाप है। पुण्य प्रकृतियों का उदय होने पर चेहरा सुन्दर और स्पृहणीय होता है। देख कर दूसरों को प्रसन्नता होती है। प्रीति उपजती है। हृदय में पावन विचारों की तरंगें तरंगित होने लगती हैं। और यदि पाप प्रकृतियों का उदय होता है तो इससे विपरीत परिणाम होते हैं।

दुनिया में अरबों--करोड़ों मनुष्य पैदा होते और निवास करते हैं। उनमें बहुतों का रूप सुन्दर होता है। किन्तु तीर्थंकर भग--वान् की तुलना में किसी का सौन्दर्य नहीं ठहर सकता। उनका सौन्दर्य एकदम असाधारण होता है,क्योंकि उनका पुण्य असाधारण है। अनेक जन्मों में संचित उत्कृष्ट पुण्य के उदय से तीर्थंकर की छवि अनुपम और गजब की होती है।

भाइयो ! जैसे ज्यादा पैसे खर्च करो तो रेल में फर्स्टक्लास का डिब्बा मिलता है, अच्छे वस्त्र और अच्छे आभूषण पहनने को मिलते हैं, सुन्दर हवेली निवास करने को मिलती है, इसी प्रकार प्रबल पुण्य हो तो सब संयोग अनुकूल मिलते हैं। भगवान् की करणी उत्कृष्ट थी तो फल भी उत्कृष्ट मिला। शारीरिक सम्पदा भी असाधारण मिली।

भगवान् ऋषभदेव को यद्यपि जैनों ने प्रथम तीर्थंकर स्वीकार किया है, तथापि वे अखिल विश्व की महान् विभूति हो गए हैं। इस संसार पर उनका असीम ऋण है। वे किसी सम्प्रदाय के नहीं, किसी पंथ के नहीं, किसी वर्ण या वर्ग के नहीं, अपितु समस्त लोक के हैं। वे लोकनाथ हैं, जगत् के बन्धु हैं। उन्होंने सब को समान रूप से जीवन की कलाएँ सिखलाई और आत्मकल्याण का पथ भी प्रदर्शित किया।

खेद की बात है कि लोगों ने धन-सम्पत्ति, जमीन और मकान आदि का बँटवारा कर रक्खा है। यह मान लिया है कि यह वस्तु मेरी है और यह वस्तु तेरी है! इसी प्रकार महान् पुरुषों का भी बँटवारा सा कर रक्खा है। कई भाई समझते हैं कि जो जैनों के महापुरुष हैं, वे जैनों के ही हैं, दूसरों के नहीं। मगर विचार करना चाहिए कि महापुरुषों के जीवन पर किसी भी समूह की छाप नहीं होती। महापुरुषों में ऐसी संकीर्णता की बुद्धि नहीं होती कि वे किसी समुदाय की भलाई के लिए कार्य करें और किसी की भलाई के लिए नहीं। ऐसा विचार करने वाले महापुरुष हो ही नहीं सकते। महान् पुरुषों का हृदय महान् होता है। उनकी भावना उदार होती है। उनकी बुद्धि विशाल होती है। उनकी करुणा असीम होती है। मनुष्य मात्र पर ही नहीं, बल्कि प्राणी मात्र पर उनके अन्तःकरण से अनुकम्पा का विमल धवल स्रोत प्रवाहित होता रहता है वे एकेन्द्रिय प्राणियों को भी अपने ही समान समझते हैं।

जैसे सूर्य और चन्द्रमा का बँटवारा नहीं हो सकता, आकाश के भाग नहीं किये जा सकते और वायु के विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि यह तेरी और यह मेरी है, इसी प्रकार भगवान् का भी बँटवारा नहीं हो सकता।

यही कारण है कि भगवान् आदिनाथ भी समस्त जगत् की विभूति थे। उन्होंने समान दृष्टि से प्राणी मात्र को महामंगल का मार्ग दिखलाया है।

भागवत के पाँचवें स्कंध में राजा परीक्षित के सामने शुकदेव मुनि ने उनका वर्णन किया है। कुरान के पहले पारे में बाबा आदम का वर्णन मिलता है और वह बाबा आदम यही ऋषभदेव आदि-नाथ ही थे। सब से पहले इन्होंने ही धर्म की स्थापना की। ऐसे भगवान् ऋषभदेव थे। उन्हीं को हमारा बार-बार नमस्कार है।

भाइयो! संसार में तीन भाव मुख्य हैं-(१) पुण्य (२) पाप और (३) धर्म। जो प्राणी पाप का उपार्जन करते हैं, उन्हें खराब शरीर निर्धनता, अंधापन लूला- लंगड़ापन और भिक्षुकता की प्राप्ति होती है। पापी जीव हर प्रकार से दुखी रहता है। पुण्य के फल से सुन्दर शरीर और मधुर ध्वनि, की प्राप्ति होती है। पुण्यात्मा जीव को विनीत पुत्र, पतिव्रता पत्नी, प्रेमशील परिवार, धन--सम्पत्ति बढ़िया हवेली आदि सब सामग्री सुखदायी मिलती है। और धर्म से निरंजन निराकार पद की प्राप्ति होती है।

पाप से अशुभ कर्मों का बन्ध होता है, पुण्य से शुभ कर्मों का बंध होता है, परन्तु धर्म की विशेषता यह है कि उससे कर्मबंध नहीं होता, वरन् संवर और निर्जरा होती है। अर्थात् नवीन कर्मों के आस्रव का निरोध होता है और पहले के बँधे कर्मों का क्षय होता है। धर्म का आचरण करके जीव जब पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय कर डालता है और नूतन कर्मों का आगमन रोक देता है तो समस्त कर्मों का अन्त आ जाता है और कर्मों का अन्त आने पर मुक्ति--पद प्राप्त हो जाता है।

पुण्य का उपार्जन करना बड़ा कठिन कार्य है। धन उपार्जन करने में कठिनाई होती है, किन्तु दिवाला निकाल देने में कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता ! इसी प्रकार पाप का उपार्जन साधारण -सी बात है।

दिन उगते ही अनेक लोग भैरों-भवानी के पास जाते हैं और उनके आगे मत्था टेक कर प्रार्थना करते हैं कि मुझे लखपति या करोड़पति बना दो। किन्तु एक लखपति तब बनता है जब सौ आदमियों के पास से एक-एक हजार रुपया निकलता है। इस प्रकार सौ आदमियों की पूंजी छीनेगा तब वह लखपति बनेगा। इसी तरह सौ लखपतियों के बिगड़ने पर एक करोड़पति बनता है।

अरे धनिक ! तू अकड़ता है कि मैंने सोने के बटन बनवाये हैं; परन्तु यह तो विचार कर कि यह बटन किस प्रकार तेरे पास आये हैं ? तस्करव्यापार किया, बेईमानी की, भोले लोगों को ठगा और झूठ-कपट का सेवन किया, तब यह सोने के बटन बने हैं !

एक आदमी घमण्ड से सिर ऊँचा करके चलता है और मूछों पर ताव देकर कहता है-मैंने बेटी के विवाह में पचास हजार खर्च किये हैं। मगर विचारवान् व्यक्ति सोचता है-इसके पास इतना धन आया कैसे ? क्या इसने मिहनत-मजदूरी करके धन कमाया है ? क्या किसान की तरह चोटी से एड़ी तक पसीना बहाया है ? मिहनत करने वाले तो इतना धन नहीं कमा पाते। फिर इसने यह धन कैसे कमा लिया ? निस्सन्देह इसने गरीबों का शोषण किया है, कइयों के साथ ठगाई की है, कितने ही के बटके भरे हैं, तब यह एक विवाह में पचास हजार लगा सका है !

इस प्रकार धनी जिस बात से अपनी प्रतिष्ठा समझता है, जिसमें अपना गौरव मानता है, समझदार लोग उसी में उसके जीवन का अधःपतन देखते हैं।

कहो भाई, भैरोंजी किस-किसको गरीब बनावें और किस किस को अमीर बनावे ? एक अमीर कहता है—भैरोंजी महाराज, मेरे घर चोर न आवें ! और चोर कहता है—महाराज ! मुझे धन मिल जावे ! भैरोंजी किसकी सहायता करें और किसकी न करें ?

भाइयो ! सच बात तो यह है कि न कोई किसी को बना सकता है और न कोई किसी को बिगाड़ ही सकता है ? पुण्य बनाने वाला और पाप बिगाड़ने वाला है। इसीलिए शास्त्र में कहा है:—

**पुरिसा ! तुममेव तुमं मित्तं,**

**किं बहिया मित्तमिच्छसि ?**

—आचारांगसूत्र.

हे आत्मन् ! तू अपना मित्र अर्थात् सहायक आप ही है। बाहर के मित्र की क्यों इच्छा करता है ?

कितना सुन्दर और भावपूर्ण वचन है ! वास्तव में आत्मा स्वयं अपने ही कर्म से सुखी होता है और अपने ही कर्म से दुखी होता है। अगर तेरे पुण्य का उदय है तो कोई देवी-देवता भी तेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकता। और यदि पुण्य क्षीण हो गया है और पाप का उदय आ गया है तो कोई तुझे सुखी नहीं बना सकता। इस प्रकार अपने सुख और दुःख के लिए तू ही उत्तरदायी है। किसी दूसरे को उत्तरदायी बना कर तू व्यर्थ ही राग-द्वेष के वशीभूत होता है, आर्त्तध्यान करता है और अशुभ कर्म का बन्धन करता

है ! याद रक्खो, पुण्य कमाना कठिन है, पर पाप का उपार्जन करने में कुछ भी देर नहीं लगती ! जोड़ने में देरी लगती है, तोड़ने में क्या देर लगती है ? किसी ने ठीक कहा है:—

**भवन बनावत दिन लगें, ढाहत लगे न वार ।**
**भला करत लागे विलम्ब, विलम्ब न बुरे विचार ॥**

मकान बनाने में कितने दिन लगते हैं ? मगर बने मकान को ढा देना तो चुटकियों का खेल है !

श्रीठाणांगसूत्र में पुण्य नौ प्रकार के बतलाये हैं—(१) अन्न-पुण्य (२) पानपुण्य (३) लयनपुण्य (४) शयनपुण्य (५) वस्त्रपुण्य (६) मनःपुण्य (७, वचनपुण्य (८) कायपुण्य और (६) नमस्कार-पुण्य ।

अभिप्राय यह है कि अन्न आदि का दान करने से पुण्य होता है, मन; वचन और काय की शुभ प्रवृत्ति से पुण्य होता है और नमस्करणीय को नमस्कार करने से भी पुण्य होता है। इस प्रकार पुण्योपार्जन करने के अनेक तरीके हैं। आपके पास दान देने को नहीं है तो मन, वचन और काय तो हैं ही। इनका शुभ व्यापार कर सकते हो। मन को प्रशस्त विचारों के सौरभ से समन्वित कर सकते हो। 'वचने का दरिद्रता ?' अर्थात् अच्छे वचन कहने में क्या कृपणता ? और कुछ न बने तो दूसरों को मीठे वचन ही कहो। विषमय, कटुक और कठोर वचन त्याग कर स्नेह के रस से परिपूर्ण, मधुर, प्रिय, और सत्य बोलोगे तो तुम्हारा क्या खर्च हो जाएगा ? बिना कुछ खर्च किये ही पुण्योपार्जन कर लोगे। इसी प्रकार शरीर से किसी गड्ढे में गिरने वाले को बचा लोगे तो क्या हानि हो जाएगी ?

भाइयो ! वीतराग देव का मार्ग बड़ा विशाल है। वह न अकेले राजाओं और रईसों के लिए है और न अनगार भिक्षुओं के लिए ही। वह तो प्राणी मात्र के कल्याण के लिए है। कोई किसी भी परिस्थिति में क्यों न हो, चाहे तो पुण्य का उपार्जन कर सकता है।

पुण्य का प्रभाव अचिन्त्य है। पुण्यशाली का सर्वत्र आदर-सत्कार होता है। पुण्यात्मा जहाँ जाता है, हजारों उसकी अगवानी के लिए खड़े रहते हैं। 'आइए, पधारिए' कहलवाने वाला पुण्य ही है। जिसके पुण्य का उदय नहीं होता, कोई उसके सामने आँख उठाकर देखता भी नहीं है।

हे प्राणी ! चोरी और डकैती से धन नहीं होता है। कदाचित अनीति और बेईमानी से धन हो भी गया तो ज्यादा दिन नहीं ठहरता है। असली धन तो पुण्य के उदय से ही होगा। भूखे को भोजन, प्यासे को पानी और थके-मांदे को ठहरने के लिए मकान देने से पुण्य होता है। ठंड से बचने के लिए वस्त्र देना, सोने के लिए बिछोना देना भी पुण्य का कारण है। मन, वचन और काय के विषय में ऊपर कहा ही जा चुका है।

पुण्योपार्जन के इस प्रकार अनेक मार्ग होने पर भी लोग पुण्य का अर्जन करने की ओर लक्ष्य नहीं देते और बड़ी प्रीति एवं रुचि के साथ पाप उपार्जन करते हैं। किसी की सगाई हो रही हो तो वरपक्ष को लिख देगा कि कन्या को मृगी आती है ! कन्यापक्ष को लिख देगा कि लड़का पुंस्त्वहीन है ! किसी गरीब की नौकरी लग रही होगी तो कह देगा कि यह तो चोट्टा है !

भाइयो ! किसी की रोजी पर लात मारनी अच्छा नहीं है। यह बड़ा घोर और अधम कृत्य है। आजीविका ग्यारहवाँ प्राण गिना जाता है, क्योंकि आजीविका के अभाव में दसों प्राण खतरे में पड़ जाते हैं !

तुम शिकायत करते हो कि हमें व्यापार में लाभ नहीं होता; परन्तु लाभ हो तो कैसे हो ? तुमने कइयों की आजीविका का विच्छेद किया है !

कोई कहता है—समाज में बड़ा अंधेर है। हमारी सगाई नहीं होती। परन्तु सगाई हो कैसे ? न जाने कितनों की सगाई छुड़ा कर आये हो !

भाइयो ! पाप रोने-कलपने से भी नहीं छूटते ! जन्म बिगाड़ने में देरी नहीं लगती, भलाई करने में देर लगती है। अतएव पुण्य का उपार्जन करो।

पुण्य का उपार्जन करने के पूर्वोक्त नौ प्रकार हैं और भोगने के बयालीस प्रकार हैं। स्वस्थ और सुन्दर शरीर मिलना, उत्तम और सुसंस्कृत कुल मिलना, नीरोगता प्राप्त होना, धन-सम्पत्ति होना, संसार में यश और कीर्त्ति का प्रसार होना, तीर्थंकर चक्रवर्त्ती बलदेव, वासुदेव आदि की पदवी प्राप्त होना इत्यादि।

तो भाई, अगर तुम्हें चक्रवर्त्ती बनना है, तीर्थंकर बनना है, या वासुदेव बनना है, अथवा स्वस्थ सुन्दर और सम्पत्तिशाली होने की अभिलाषा है तो उसका मार्ग पुण्योपार्जन करना है। कहावत है—इस हाथ दे, उस हाथ ले। दान करोगे तो अनेक गुणा पाओगे। न करोगे तो क्या पाओगे ?

एक सज्जन व्याख्यान सुनने के पश्चात् मुझसे बोले—मेरी पत्नी प्रतिदिन दो रोटियाँ एक बाबा को देती थी। किन्तु मैंने कहा—इन निकम्मे भिखमंगों को क्यों वृथा रोटियाँ देती हो ? इन्होंने भीख माँगने का धंधा चला रक्खा है। यह मिहनत नहीं करते, मजूरी नहीं करते। देश पर बोझ बने हैं। सीधी रोटियाँ खा-खाकर

आलसी हो रहे हैं ! मेरे ऐसा कहने पर चार वर्ष से रोटियाँ देना बन्द हो गया है। प्रतिदिन दो रोटियाँ निकलती जाती तो कोई बोझ नहीं था—पता ही नहीं चलता था कि कुछ कमी हो गई। अब यदि चाहूँ कि चार वर्ष की दो-दो रोटियों के हिसाब से रुपये करके इकट्ठे दे दूं तो नहीं दे सकता ! मैं ने पुण्य को लात मार दी और लाभ कुछ भी नहीं हुआ ! पुण्य का परित्याग करने से लाभ हो भी क्या सकता है सिवाय हानि के ! मगर उस समय यह बात मेरी समझ में नहीं आई थी। नयी रोशनी का समझता था मैं अपने आपको ! आज पश्चात्ताप हो रहा है। सोचता हूँ वह रोशनी नहीं, अंधकार था !

इस प्रकार न जाने कितने लोग आज की स्वार्थपूर्ण विचारधारा में बह रहे हैं और नाना प्रकार के कुतर्क करके अपना भविष्य अमंगलमय बना रहे हैं। आज दया और करुणा भाव की कमी हो रही है और हमारे यहाँ के अनेक धर्मोपदेशक भी करुणा करके किसी भूखे को रोटियाँ देने में एकान्त पाप की बात कहने लगे हैं। इस प्रकार भोले भाई चक्कर में पड़े हैं !

याद रक्खो भाई, परोपकार करने की भावना पुण्य के उदय से होती है। अधिकांश लोग दान नहीं देते, इसका प्रधान कारण यही है कि उनके पुण्य का उदय नहीं है। हजारों और लाखों का दिवाला निकलते देर नहीं लगती, मगर चार पैसे का दान देने में मनुष्य दस बार सोचता है ! यह सब पुण्य की न्यूनता का ही परिणाम है ! अरे, जो सम्पत्ति आज तुझे मिली है, वह एक न एक दिन तो चली जाने को ही है। सदा तेरे पास नहीं रहेगी। फिर उसे दान देकर भविष्य में पाने का अधिकारी क्यों नहीं बनता ? परलोक में पूंजी को साथ ले जाने का एक ही तरीका है और वह यही कि तू उदारभाव से, प्रेमपूर्वक दान दिये जा !

एक पुण्यात्मा ने एक मुश्त ग्यारह लाख का दान दिया। दूसरे वर्ष उसे सवा करोड़ का मुनाफा हो गया !

भाई, दिया दान जाता कहाँ है ? एक किसान घर आकर रोने लगा। उसके पड़ौसी ने रोने का कारण पूछा तो वह कहने लगा—मैं एक गांठ गेहूँ खेत में फैंक आया। पीस कर खाता तो क्या ही अच्छा होता !

तब पड़ौसी ने कहा—अरे मूर्ख; तू खेत में डाल आया तो क्या किसी पर ऐहसान कर आया ? क्या फालतू गँवा आया ? भले आदमी, आज डाल आया है तो फसल पकने पर एक-एक के बदले पचास-पचास दाने पाएगा !

भाइयो ! आज जो नरम-नरम फुलके खा रहे हो यह कहाँ से आते यदि खेत में बीज न डाला होता ? जो पहले बोया उसे अभी खा रहे हो और जो अब बोओगे उसे आगे खाओगे। जो बोएगा ही नहीं, वह क्या पाएगा ? अतएव यदि दान न देते होओ तो अब देना आरंभ करो और यदि देते हो तो देते समय ऐहसान न जतलाओ। यह मत सोचो कि मैं दान देकर दानपात्र पर ऐहसान कर रहा हूँ। बल्कि यह विचार करो कि यह दान को अङ्गीकार करने वाला मुझे पुण्य का अवसर दे रहा है। तुम स्वयं उसके प्रति कृतज्ञ बनो। ऐसी भावना करने से तुम्हारे दान का फल कई गुणा प्रशस्त बन जाएगा। लेकिन दान के फल की कामना भी मत करो। जो भी क्रिया की जाती है, उसका फल अवश्य होता ही है। फल की लिप्सा होने पर फल तुच्छ हो जाता है। निष्काम भाव से क्रिया की जाय तो महान् फल प्राप्त होता है।

भाइयो ! दान देना महान् पुण्य का कारण है। दान देने से उच्च स्थिति की प्राप्ति होती है। एक कवि का कथन है—

गौरवं प्राप्यते दानान्न तु वित्तस्य संचयात् ।
स्थितिरुच्चैः पयोदानां, पयोधीनामधः स्थितिः ॥

अर्थात्-दान देने से ही मनुष्य को गौरव प्राप्त होता है. धन का संचय करने से ही कोई बड़ा नहीं बन सकता। इस सत्य पर विश्वास न आता हो और शंका उत्पन्न होती हो तो प्रत्यक्ष देख लो। मेघ जलदाता हैं और जलधि ( समुद्र ) जल का संग्रह करता है। दोनों में कौन ऊँचा है ? मेघ को ऊँची स्थिति प्राप्त है ! इसी प्रकार दान देने वाले को उच्चता प्राप्त होती है ।

सचमुच दान का बड़ा महत्त्व है। दान देने से परलोक में सुख मिलता है और इस लोक में भी आनन्द की प्राप्ति होती है। कहा है—

दानेन भूतानि वशीभवन्ति,
दानेन वैराण्यपि यान्ति नाशम् ।
परोऽपि बन्धुत्वमुपैति दानैः—
दानं हि सर्वव्यसनानि हन्ति ॥

अर्थात्-दान से सभी भूत वशीभूत हो जाते हैं, दान देने से पुराना वैर भी मिट जाता है ! दान के प्रभाव से पराये भी अपने बन जाते हैं। यहाँ तक कि दान समस्त दुःखों को दूर कर देता है।

तीर्थङ्कर भगवान् जब संयम पालन करने के लिए उद्यत होते हैं तो दीक्षा लेने से पहले एक वर्ष तक दान दिया करते हैं। अन्यान्य धर्मों की प्रवृत्ति वे बाद में, केवली होने के पश्चात् करते हैं, पर दानधर्म की स्थापना तो सर्वप्रथम कर देते हैं। यही कारण है कि चार प्रकार के धर्म में दानधर्म को प्रथम स्थान दिया गया है।

भाइयो ! अभिप्राय यह है कि आपको जो भी सामग्री प्राप्त हुई है, चाहे वह धन-वैभव हो, चाहे मन वचन और काया हो, चाहे जीवनोपयोगी अन्य वस्तुएँ हो, आपका कर्त्तव्य है कि आप पुण्य के लिए उनका सद्व्यय करें, पुण्योदय से मिली सामग्री को यदि नूतन पुण्य के उपार्जन करने में व्यय न किया तो वह उस वस्तु का सद्व्यय नहीं कहलाएगा। अतएव अपने कल्याण की दृष्टि से आपका यही कर्त्तव्य हैं कि आप दीन-दुखी जीवों की सहायता करें, उनके अभावों की यथायोग्य पूर्त्ति करें, उनके दुःख को दूर करें, उन्हें सुख-साता पहुँचाने का प्रयत्न करें। जो भूख से तड़फ रहा है उसे भोजन दे दोगे तो निश्चय समझो कि इसमें आपकी कुछ भी हानि नहीं होगी, बल्कि लाभ ही लाभ होगा। कदाचित् दान देने से आप को किसी प्रकार की कठिनाई का सामना करना पड़ता हो तो भी मैं यही कहूँगा कि आप उस कठिनाई को सहन करके भी दान दीजिए। दान के प्रभाव से आपकी कठिनाइयाँ उसी प्रकार विलीन हो जाएँगी जिस प्रकार प्रबल आँधी के वेग से मेघ की घटाएँ छिन्न भिन्न हो जाती हैं। याद रखिए, दान महान् फलदायी होता है। कहा है—

> सुपात्रदानाच्च भवेद् धनाढ्यो,
> धनप्रभावेण करोति पुण्यम्।
> पुण्यप्रभावात् सुरलोकवासी,
> पुनर्धनाढ्यः पुनरेव भोगी ॥

अर्थात्—सत्पात्र को दान देने से मनुष्य धन सम्पन्न बनता है, धन के प्रभाव से पुण्यार्जन करता है, उस पुण्य के प्रभाव से देवलोक की प्राप्ति होती है। देवलोकवासी जब यहाँ आता है तो

फिर धनवान बनता है और मनोहर एवं कमनीय भोगों का स्वामी होता है। इस तरह दान के प्रभाव से दानी को पुनः पुनः सुख की प्राप्ति होती रहती है ॥

अभिप्राय यह है कि आपके सामने दो वस्तु हैं—एक पुण्य और दूसरी पाप। आपको दोनों में से किसी भी एक को ग्रहण करने का अधिकार है। चाहो तो पुण्य ले सकते हो, चाहो तो पाप ले सकते हो। जो इच्छा हो ग्रहण लो। यदि अंधा, निर्धन और दुखी होना है तो पाप से प्रेम करो। धन सम्पन्न बनना है, सुखी रहने की इच्छा है, स्वस्थ और सन्तुष्ट रहना चाहते हो तो पुण्य को ग्रहण कर लो।

भाइयो! पुण्य और पाप के फल को समझने के लिए किसी कल्पना की आवश्यकता नहीं है। किसी के वचन पर विश्वास करने की भी आवश्यकता नहीं है। पुण्य-पाप के फल तो प्रत्यक्ष ही दिखाई दे रहे हैं। संसार में अधिकांश प्राणी दुखी हैं। वे अपनी इच्छाओं की तृप्ति नहीं कर सकते। दिन-रात कठोर श्रम करके भी अपने परिवार की अनिवार्य आवश्यकताएँ पूर्ण नहीं कर पाते। कोई रुग्ण है, कोई दरिद्र है, कोई घृणित समझे जाते हैं, कोई अंगोपांग से विकल हैं और कोई-कोई अपमानित एवं तिरस्कृत होते हैं। एकान्त में बैठकर विचार करो कि ऐसा क्यों होता है?

इसके विपरीत ऐसे भी लोग हैं जो संसार के उत्तम से उत्तम सुख भोग रहे हैं। उन्हें कभी किसी वस्तु के अभाव का अनुभव नहीं करना पड़ता। इच्छा करते ही उसकी पूर्त्ति हो जाती है। स्वस्थ रहते हैं, नीरोगता का आनन्द भोगते हैं। सर्वत्र आदर पाते हैं। इस मनुष्यलोक में रहते हुए भी ऐसा सुख भोगते हैं, जैसे देवगण स्वर्ग में सुख भोगते हैं इस तथ्य पर भी आप विचार करो। चित्र

के दोनों पहलू आपकी आँखों के आगे मौजूद हैं। आप जिसे चाहें, ग्रहण करें। देखिए:—

पुण्य पाप के यह फल हैं, दुनियां जो पा रही है।
कहने की क्या जरूरत, नज़रों में आ रही है ॥टेक॥
एक भूप की है रानी, सजती है तन पै भूषण।
एक महतरानी बन कर, झाड़ू लगा रही है ॥१॥
एक सेठ की सेठानी, करती है मन की मानी।
पनिहारी एक बन कर, पानी पिला रही है ॥२॥
एक के मकां है सुन्दर, खाने को माल उम्दा।
एक के न आशयाना, क्षुधा सता रही है ॥३॥
एक बैठता है हाथी, एक के न कोई साथी।
एक नामवर बना है, एक की क़दर नहीं है ॥४॥
मुफलिस के घर में जनमा, पहुँचा है तवंगर के।
कहे चौथमल ये बाना, क़िस्मत बना रही है ॥५॥

भाइयो! पुण्य और पाप के फल तो पद-पद पर प्रतिदिन प्रत्यक्ष ही दिखाई दे रहे हैं। उन्हें देखने के लिए किसी शास्त्र को टटोलने की आवश्यकता नहीं है। जगत् में जो विषमता दिखलाई दे रही है, वही तो पुण्य और पाप की कहानी कह रही है! एक रानी है दूसरी महतरानी है। एक सेठानी है दूसरी पनिहारिन है। एक गगनस्पर्शी विशाल राजप्रासाद में सुखपूर्वक निवास करता है, दूसरा किसी वृक्ष के नीचे सर्दी-गर्मी काट रहा है! कोई षट्रस भोजन

जीमता है, किसी को जूठन भी मयस्सर नहीं हो रही है ! एक हाथी के हौदे पर सवार होकर निकलता है, किसी को कोई साथी भी नहीं मिलता। कोई दरिद्र के घर में जन्म लेकरके भी लखपति की गोद में जाकर सम्पत्तिशाली बन जाता है। यह सब खेल आखिर किस आधार पर चल रहे हैं ? इसका मुख्य कारण पुण्य और पाप ही हैं। यह समझकर आपको निर्णय करना है कि आप किसे ग्रहण करना चाहते हैं ? याद रखना कि पाप करके पुण्य के फल की आकांक्षा करोगे तो वह नहीं मिलेगा। बंबूल बोकर आम के फल की आशा करना व्यर्थ ही नहीं, मूर्खता भी है। पुण्य का फल पुण्य करने से ही प्राप्त होगा।

भाइयो ! एक समय की बात है कि त्रिशलातनय, सिद्धार्थ--कुल शृंगार भगवान् महावीर स्वामी केवलज्ञानी होकर जगत् के जीवों का कल्याण करते हुए ग्राम, नगर, पुर, पट्टन आदि में विचरते--विचरते बनारस पधारे।

> आये आये हैं वीर जिनेश्वर भव्य जीवों के भाग ।।टेक।।
> शहर बनारस गंगा के तट, समोसरे भगवान् ।
> सुरनर मिलकर सेवा करते समय अपूर्व जान ।।१।।

भव्य जीवों के असीम पुण्योदय से गंगातट पर बसे हुए बनारस नगर में प्रभु के पावन पादपंकज पड़े। भगवान् पधार कर नगर के बाहर एक बगीचे में ठहर गये। स्वर्ग के देवता और मनुष्य भगवान् की सेवा में उपस्थित हुए।

भगवान् समस्त जीवों को समान भाव से आत्मकल्याण का मार्ग बतलाते हैं। आप जानते हैं कि पानी तो सब जगह एक सरीखा बरसता है, परन्तु उपजाऊ भूमि में अंकुर फूट पड़ते हैं और

ऊसर भूमि ज्यों की त्यों रह जाती है । इसी प्रकार भगवान् का उपदेश सब के लिए समान होने पर भी जिनके पुण्य का उदय होता है, उन पर उपदेश का असर पड़ता है; जिनके पाप का उदय है वे ज्यों के त्यों रह जाते हैं । अब—

**सपरिवार से अलख भूमिपति, भेटे प्रभु को आय।**
**चन्द्र चकोरवत् सब जन सुनते, जिनवाणी सुखदाय ॥२॥**

जब भगवान् बनारस के बाग में पधारे तो उनके संघ में १४ हजार साधु और ३६ हजार साध्वियाँ थीं । साधुओं में मुख्य गौतम स्वामी थे और साध्वियों में महासती चन्दनबाला । गौतम स्वामी चारों वेदों के ज्ञाता ब्राह्मण थे और चन्दनबाला चम्पानगरी की राजकुमारी थीं । उन्होंने अविवाहित रहकर ही साध्वी-दीक्षा अंगीकार कर ली थी । उस समय ओसवाल आदि-आदि उपजातियों की उत्पत्ति नहीं हुई थी; सिर्फ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, यह चार वर्ण ही थे । उपजातियों का निर्माण तो बाद में हुआ है ।

हाँ, तो हजारों आदमी भगवान् के दर्शन के लिए और उपदेश-श्रवण के लिए उपस्थित हुए । उस समय बनारस का राजा अलख था । वह भी अपनी रानियों के साथ आया और विधिपूर्वक भगवान् को वन्दना करके यथास्थान बैठ गया ।

सब का ध्यान भगवान् की ओर लगा हुआ था । सब प्रभु की कल्याणी वाणी को श्रवण करने के लिए उत्कंठित हो रहे थे । उसी समय प्रभु ने फर्माया:—

**वर्ण गंध स्पर्श वर्जित, आतम द्रव्य अनन्त ।**
**अलख निरंजन नित्य अबाधित हंस ब्रह्म अचिंत ॥ ३ ॥**

हे भव्य जीवो ! यह विशाल विश्व मूलभूत दो तत्त्वों का विस्तार है-एक है जीव और दूसरा है जड़। जीव को आत्मा, हंस या ब्रह्म भी कहते हैं और जड़ पदार्थों को अनात्मा कहते हैं। आत्मा में वर्ण, गंध, रस और स्पर्श आदि कोई इन्द्रियगम्य धर्म नहीं पाये जाते हैं। आत्मा में काला, पीला, नीला, लाल या सफेद रंग नहीं है। आत्मा में रंग होता तो उसे आँख से देख सकते थे, परन्तु रंग न होने के कारण वह नेत्र का विषय नहीं है। आत्मा में खुशबू या बदबू भी नहीं है। गंध होती तो सूंघ कर उसे जान लेते, पर गंध न होने से वह घ्राणेन्द्रिय का भी विषय नहीं है। आत्मा में रस भी नहीं है। कटुक, मधुर, आम्ल, तिक्त आदि कोई रस होता तो उसे चख कर पकड़ लेते; परन्तु रस न होने के कारण वह रसनेन्द्रिय के द्वारा भी नहीं जानी जा सकती। आत्मा गर्म, ठंडी, हल्की, भारी, रूखी या चिकनी भी नहीं है। इस कारण उसका स्पर्श भी नहीं हो सकता। आत्मा अरूपी, अखण्ड और अविनाशी है। वह मारने से मरती नहीं और काटने से कटती नहीं। गीता में भी कहा है:—

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न, शोषयति मारुतः॥

अर्थात्--यह आत्मा शस्त्रों से काटने का प्रयास करने पर कट नहीं सकती, आग में जलाने से जलती नहीं; पानी में गलती नहीं और हवा से सूखती नहीं है। शस्त्र, अग्नि, पानी और वायु, यह सब स्थूल पदार्थ हैं। आत्मा तक इनकी पहुँच नहीं हो सकती।

कुछ लोग सोचते हैं कि जैसे आकाश एक है और वह सर्वव्यापी है, इसी प्रकार आत्मा भी एक है। परन्तु बात ऐसी नहीं है।

आत्माएँ एक सरीखी तो हैं, पर एक नहीं है। अनन्तानन्त आत्माएँ एक दूसरी से सर्वथा पृथक् हैं। आत्मा प्रत्येक शरीर में अलग-अलग है। अलग-अलग न होती तो उनके सुख-दुःख भी अलग-अलग न होते। हम देखते हैं- कोई ज्ञानी है, कोई अज्ञानी है, कोई सुखी है कोई दुखी है, कोई अस्वस्थ है। आत्मा एक ही होती तो यह अनेकता कैसे प्रतीत होती? इसके अतिरिक्त आत्मा को एक माना जाता तो एक मनुष्य के मरने पर सब को मरना चाहिए और एक के जन्म लेने पर सबको जन्म लेना चाहिए। मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियों का भेद भी नहीं होना चाहिए।

कहा जा सकता है कि आत्मा कौन है? कैसे समझा जाय कि आत्मा का अस्तित्व है? इन्द्रियों से उसका पता नहीं चलता, फिर हम आत्मा को पहिचानें तो कैसे पहिचानें? इसका उत्तर यह है कि यह जो चल-फिर रहा है, वही तो आत्मा है। अगर आपके शरीर में आत्मा न होती तो आप व्याख्यान सुनने आ ही नहीं सकते थे। जिसे आप मुर्दा कहते हैं, उसमें और आपमें क्या अन्तर है? मुर्दा देखता नहीं, सुनता नहीं सूंघता नहीं, चखता नहीं और किसी चीज़ को छूता नहीं है। अर्थात् मुर्दे की इन्द्रियाँ काम नहीं करतीं। आपकी इन्द्रियाँ यह सब काम करती हैं। इस भिन्नता का कारण क्या है? बस, यही समझ लीजिए कि इन्द्रियों से जो काम लेने वाला है, वही आत्मा है। आत्मा की सत्ता होने पर ही इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हैं। आत्मा के अभाव में शरीर निश्चेष्ट पड़ा रहता है। इसी से आत्मा की सत्ता प्रतीत होती है।

यह सत्य है कि आत्मा इन्द्रियों के द्वारा नहीं जानी जा सकती, किन्तु हमें भूल नहीं जाना चाहिए कि हमारे पास इन्द्रिय-जन्य ज्ञान के अतिरिक्त और भी ज्ञान हैं। ऐसे ज्ञानों में एक स्वसंवेदन प्रत्यक्ष भी है। हमें 'अहमस्मि' अर्थात् मैं हूँ, ऐसी जो प्रतीति

होती है. वह स्वसंवेदन प्रत्यक्ष है और इस प्रत्यक्ष से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त अनुमान और आगम प्रमाण भी आत्मा के अस्तित्व के समर्थक हैं।

आत्मा का विषय बहुत व्यापक है। विद्वानों ने इस विषय पर बहुत चर्चाएँ की हैं। बड़े--बड़े ग्रन्थ लिखे हैं। आत्मा के संबंध में प्राचीन ऋषियों--महार्षियों ने गहरी छानबीन की है। उन सब बातों को बतलाने का समय नहीं है। तथापि यहाँ संक्षेप में जो बातें कही हैं, उनसे आत्मा को पहचानने और समझने का प्रयत्न करना चाहिए।

मूल बात यह है कि शरीर अलग तत्त्व है और आत्मा अलग तत्त्व है। दोनों को पृथक्-पृथक् रूप में समझ लेना ही ज्ञान का फल है। इसी को भेदविज्ञान कहते हैं। आत्मा--अनात्मा का भेद समझ में न आया तो ज्ञान होना और न होना समान है।

भाइयो! तुम यहाँ व्याख्यान सुनने आये हो तो तुम्हारी आत्मा ज्ञान सुन रही है, तुम्हारा शरीर नहीं सुन रहा है। शरीर की खुराक है रोटी, दाल, चावल, हलुवा, रबड़ी, दूध, दही, खीर आदि-आदि पदार्थ; और उन्हें खाने से शरीर मोटा-ताज़ा होता है। न खाया जाय तो हाथ से मक्खियाँ भी नहीं उड़ सकती। तलवार कमर में लटका कर कहते हो कि हम शूरवीर हैं, किन्तु खाने को न मिले तो कुछ भी न बने!

भूखे भजन न होय गुपाला,
यह लो कंठी यह लो माला।

कितनी ही तपस्या कर लो, आखिर चूल्हे का मुख देखना ही

पड़ता है ! तो यह शरीर की खुराक है। आत्मा की खुराक दूसरी है। धर्मकथा श्रवण करना, तपस्या करना आदि आत्मा की खुराक है। जो शरीर को खुराक देकर मोटा-ताज़ा बना लेता है, लेकिन आत्मा को खुराक नहीं देता, वह जब मरेगा तो उसे यमदूत पकड़ लेंगे। अगर दान, शील, तप और भावना की खुराक देकर आत्मा को बलिष्ठ बना लोगे तो यमदूत कुछ भी नहीं कर सकेंगे। कई लोग शरीर को तो खूब मोटा-ताज़ा और तगड़ा बना लेते हैं किन्तु उपवास एक भी नहीं कर सकते। उन्हें भविष्य में ऐसा शरीर मिलना मुश्किल हो जायगा। अतएव आत्मा की ओर लक्ष्य दो। उसे पहचानो और उसके कल्याण का उपाय करो।

भगवान् फर्माते हैं—आत्मा अखण्ड और अविनाशी है। न उसका जन्म होता है, न मरण होता है।

प्रश्न किया जा सकता है कि यदि आत्मा का जन्म-मरण नहीं होता तो यह सब रचना क्या हो रही है ? फिर कौन जन्मता और मरता है ?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जैसे पुराना कपड़ा उतार कर नया पहन लिया जाता है, उसी प्रकार यह आत्मा एक शरीर को छोड़ कर दूसरा शरीर धारण कर लेता है। कहा है:—

जीये जीये और जियेगा, सुन लो सारे लोग।
दर्शन ज्ञान चारित्र तपस्या लक्षण है उपयोग ॥४॥

यह आत्मा मरी नहीं, मरती नहीं और मरेगी नहीं। दर्शन, ज्ञान, चारित्र इसके गुण हैं। उपयोग अर्थात् चेतना इसका लक्षण है। इससे आत्मा की पहचान होती है। आगे कहा है:—

शुभाशुभ कर्मों के योग से जन्म मरण ये करती।
आवागमन से बचना चाहो पापों से करो निवृती ॥५॥

भगवान् फर्माते हैं कि दुनिया में दो प्रकार के कर्म हैं--शुभ और अशुभ। पुण्य का योग हो तो अच्छा शरीर मिलता है और पाप का योग हो तो खराब शरीर मिलता है। पुण्य के द्वारा जो कर्म बँधते हैं वे शुभ कर्म कहलाते हैं और पाप से बँधने वाले कर्म अशुभ कर्म कहे जाते हैं। अशुभ कर्म से 'पुनरपि जननं, पुनरपि मरणं' होता है अर्थात् जन्म मरण का अक्षय प्रवाह चालू रहता है।

कई लोग कहते हैं--अगर आत्मा का विनाश नहीं होता और वह केवल पुरातन शरीर को त्याग कर नूतन तन को ही धारण करती है तो उसे पूर्वभव का ज्ञान क्यों नहीं रहता ? इस संबंध में, संक्षेप में, यही कहा जा सकता है कि पूर्वभव का ज्ञान एकान्ततः नहीं रहता है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। किसी को ज्ञान हो भी जाता है और किसी को नहीं होता। जिस जीव के आवरण अगर हलके होते हैं, उसे पूर्वजन्म का स्मरण हो जाता है। जोधपुर में एक मुस्लिम भाई मेरे पास आये और उन्होंने बतलाया कि मेरी लड़की तीन वर्ष की थी। वह बातें करने लगी। उसने बतलाया कि मैं सालावास से आकर यहाँ जन्मी हूँ। अब वह लड़की बड़ी हो गई है और मैंने जोधपुर में ही उसकी शादी कर दी है।

इस प्रकार की घटनाएँ और भी सुनी जाती हैं, जिनसे विदित होता है कि जिनकी स्मृति का पर्दा हट जाता है, उन्हें पूर्वभव का स्मरण हो जाता है। कोई-कोई जीव पहले भव का बदला लेने के लिए भी जन्म लिया करते हैं। एक ऐसी घटना भी लीजिए:—

लश्कर में एक लखपति ब्राह्मण था। वह बीमार हो गया। उसने अपनी स्त्री से कहा-मेरा मृत्युसमय सन्निकट आ गया है। मैं दस हजार रुपये परोपकार में लगाना चाहता हूँ। तू आसपास के पाँच प्रतिष्ठित आदमियों को बुला ला। मैंने अपनी जिन्दगी में कुछ भी पुण्य नहीं किया है। अब आखिरी समय में तो कुछ कर जाऊँ!

स्त्री ने सोचा-मैं पाँच आदमियों को बुला लाऊँगी तो दान की बात पक्की हो जाएगी और दस हजार रुपये देने ही पड़ेंगे! यह सोच कर स्त्री ने बात को टाल देने के उद्देश्य से कहा घबराते क्यों हो? तबियत अच्छी हो जाएगी। लो, यह दवा ले लो मैं अभी जाकर पाँच पंचों को बुला लाती हूँ।

यह कह कर स्त्री ने दवा के बहाने अपने पति को विष पिला दिया। बीमार ब्राह्मण विष के प्रभाव से थोड़ी ही देर में नःलाम बोल गया!

प्रातःकाल उसका दाहकर्म किया गया। उसके कोई सन्तान नहीं थी! ब्राह्मणी की निष्ठुरता पर विचार कीजिए! कैसी जबर्दस्त औरत थी यह! ब्राह्मण ने लाखों की पूंजी उसके लिए छोड़ी थी, परन्तु उसमें से दस हजार का भी दान उसने नहीं करने दिया! क्या अपने पति की हत्या करने वाली वह स्त्री अमर रहने की सोचती थी? किन्तु—

जोड़ जोड़ मर जाएगा!
माल जमाई खाएगा।

अरे! माल तो जमाई खाएगा या दूसरा ही घर में आकर मालिक बन बैठेगा लेकिन अपने हाथ से भिक्षुक को एक कम्बल नहीं देगा!

ब्राह्मण को मरे दो वर्ष हो चुके। तब ब्राह्मणी ने सोचा—अब कोई लड़का गोद ले लेना चाहिए और एक जीमनवार भी कर देना चाहिए। इस विचार के अनुसार ब्राह्मणी ने भोज का आयोजन किया। लड्डू, जलेबी और पकवान बनाने के लिए ग्यारसा हलवाई बुलवाया गया!

उस समय हम सराफा बाजार में व्याख्यान देते थे। जिस दिन हम लश्कर से विहार करने को थे उस दिन वह हलवाई हमारे पास आया। उसने कहा—महाराज, मैं तो आज प्रथम बार ही आपका दर्शन करने आया हूँ। कृपा करके आज विहार मत कीजिए।

इसके बाद कुछ वार्त्तालाप हुआ। तब उसने यह किस्सा सुनाया। उसने बतलाया—महाराज! जिस समय मैंने भट्टी खोद-कर अग्नि प्रज्वलित की तो एक काला सर्प आया और लकड़ी के ऊपर बैठकर फुफकारने लगा।

मैंने बीच में टोक कर पूछा—तब तुमने साँप का क्या किया?

हलवाई ने बतलाया—मैंने बड़ी मुश्किल से उसे पकड़-वाया और जंगल में छुड़वा दिया। रात्रि होते ही साँप फिर न जाने कहाँ से और कैसे आ धमका! इस बार उसने ब्राह्मणी को काट लिया! ब्राह्मणी भयभीत होकर सहसा चिल्ला उठी। सब कुटुम्बी इकट्ठे हो गए। मंत्र जानने वाले को बुलवाया। मांत्रिक ने मन्त्र पढ़ कर पानी का छींटा डाला। तब वह सांप उसके शरीर में आ गया। उससे पूछा गया—तू ने ब्राह्मणी को क्यों काटा?

वह बोला—मैंने जान बूझ कर ऐसा किया है। मन्त्र-तन्त्र सब छोड़ो। यह तो सवेरे ही अर्थी पर आरूढ़ होकर श्मशानयात्रा

करेगी। मैं मरते समय दस हजार का दान करना चाहता था, परन्तु इसने मुझे संखिया देकर मार डाला और दान नहीं देने दिया। मैं क्रोध की अवस्था में मर कर सांप हुआ हूँ और बदला लेने की नीयत से ही इसको काटा है।

मांत्रिक बोला—अरे, हुआ सो हुआ, इसे छोड़ दे!

सर्प ने कहा-नहीं, मैं नहीं छोड़ सकता। सबेरे यह चिता में जलेगी ही और जब यह जलेगी तो मैं भी आकर इसके साथ जल जाऊँगा।

वास्तव में ऐसा ही हुआ। प्रातःकाल जब ब्राह्मणी को जलाया गया तो वह साँप भी, आकर चित्ता में उछलकर जल गया।

हलवाई बोला-महाराज! यह कोई सुनी-सुनाई कहानी नहीं है, किन्तु प्रत्यक्ष आँखों देखी घटना है!

भाइयो! इस घटना से सिद्ध होता है कि जिसे साधारण--तया जीव का मारना कहा जाता है, वह जीव का मरण नहीं है। मरने का अर्थ सिर्फ चोला बदलना है--नष्ट हो जाना, समाप्त हो जाना या सदा के लिए अस्तित्वविहीन हो जाना नहीं। जीव एक पर्याय को धारण करता है, बस यही मृत्यु कहलाती है।

हाँ, यह भी मत समझना कि मर गये तो लेना-देना छूट गया! लेन-देन तो हर हालत में चुकाना पड़ेगा। अगर बिना कर्ज चुकाये मर जाओगे तो लेने वाले किसी न किसी रूप में, कभी न कभी, अवश्य आएँगे। लड़की बन कर आई तो हजारों लगाकर शादी की। और शादी की नहीं कि फिर मर गई! स्त्री बनकर भी हजारों ले जाएगी। कोई बेटा बन कर हजारों वसूल कर लेगा। जैसे लड़के का पालन-पोषण किया और विलायत भेज कर दस

हजार रुपया खर्च करके पढ़ाया-लिखाया। जब लौट कर आया तो तीन दिन ज्वर चढ़ा और चौथे दिन नीलाम बोल गया।

एक बार हम एक जगह पहुँचे। वहाँ शादी थी और उज्जैन से बरात आई थी। विवाह हो गया और लड़की उज्जैन चली गई। विहार करते-करते हम उज्जैन पहुँचे!

एक भाई ने अपनी लड़की से कहा-मर रांड़!

लड़की बोली-मैं अभी नहीं मरूँगी। तीन हजार लेकर मरूँगी।

भाइयो! यह सब लेनदार हैं। माथे माँगते हैं। वे आते हैं और अपना कर्ज लेकर चले जाते हैं। तुम भी कुछ न कुछ उधार दोगे तो तुम भी ले सकोगे। परोपकार में लगाना उधार देना है और पाप करना उधार लेना है। याद रक्खो खेत में मुट्ठी भर अनाज डालोगे तो गाड़ी भर कर लाओगे।

बाप दान और परोपकार करेगा तो बाप को मिलेगा और बेटा करेगा तो बेटे को मिलेगा। पुण्य-पाप इधर का उधर नहीं किया जा सकता। धर्म और विद्या भी कोई किसी को नहीं दे सकता। सब को अपनी-अपनी करणी का फल मिलता है। साधु करेगा तो साधु पाएगा और साध्वी करेगी तो साध्वी पाएगी। श्रावक करेगा तो वह पाएगा और श्राविका करेगी तो वह पाएगी।

साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका, यह चार तीर्थ हैं। इनमें से किसी भी एक तीर्थ में तो आओ! श्रावक की कोटि में आ जाओगे तो भी नरक में नहीं जाओगे। इन चार तीर्थों में साधु सब से बड़ा गिना गया है, किन्तु ठीक तरह साधु धर्म का आचरण न करे तो ऐसे साधु से श्रावक ही अच्छा है। शास्त्र में भी कहा है-

सन्ति एगेहि भिक्खुहिं, गारत्था संजमुत्तरा ।
गारत्थेहिं य सव्वेहिं, साहवो संजमुत्तरा ॥

—उत्तराध्ययनसूत्र

अर्थात्—कोई कोई भिक्षु ऐसे शिथिलाचारी होते हैं कि गृहस्थ की तुलना में भी वे नहीं ठहर सकते। गृहस्थ-श्रावक भी उनसे उत्तम संयमी होते हैं। परन्तु साधु सभी गृहस्थों से संयम में श्रेष्ठ होते हैं। अर्थात् उत्तम आचारनिष्ठ साधु की तुलना में श्रावक की कोटि नीची ही है।

भाइयो! उत्तमता और अधमता अपनी-अपनी करणी पर निर्भर है। चाहे कोई साधु हो या श्रावक हो, हिन्दू हो या मुसलमान हो या ईसाई आदि कुछ भी हो, जो जैसा करेगा वैसा ही फल पाएगा। सभी धर्मशास्त्र दान और परोपकार करने का आदेश देते हैं और बतलाते हैं कि दान दोगे तो दरिद्री नहीं होओगे, शील पालोगे तो सुख-सम्पदा पाओगे और तप करोगे तथा शुभ भावना भाओगे तो केवलज्ञान पाकर मोक्ष में जाओगे। अनन्त आनन्द के भागी बन जाओगे।

देखो, राजा अलख भगवान् महावीर के मुखारविन्द से धर्मोपदेश सुन रहा है। भगवान् फर्मा रहे हैं कि शुभ और अशुभ कर्मों के योग से यह आत्मा जन्म-मरण की वेदनाओं का अनुभव करती है। फिर—

वैराग्य हृदय में छाया भूप के, जग झूठा दर्शाया।
राजकुंवर को राज्य सौंप के, संयम का पद पाया ॥ ६ ॥

भगवान् के मुख-चन्द्र से झरते हुए पीयूष का पान करके

अलख राजा ने विचार किया—मैं ने पूर्वभव में किया था सो इस जन्म में पा लिया। इस जन्म में नहीं करूँगा तो अगले जन्म में क्या पाऊँगा? इस प्रकार विचार करते ही उसे वैराग्य हो गया। राजा ने राजकुमार को राज्य का भार सौंप दिया और आप निवृत्त होकर साधु बन गया।

भाइयो! जिस जीव को पुण्य का उदय होता है, उसी पर उपदेश का प्रभाव पड़ता है। वही धर्म का एवं संयम का आचरण कर सकता है। पापी जीव पर उपदेश असर नहीं करता!

एक मनुष्य अकेला है। विवाह नहीं हुआ है और न पास में पैसा है। फिर भी धर्मध्यान नहीं करता है! उसकी दशा धोबी के कुत्ते के समान होती है। कहावत है-धोबी का कुत्ता न घर का न घाट का। धोबी सोचता है-कुत्ते को घर पर रोटी दे दी होगी। घर पर धोबिन सोचती है-घाट पर रोटी का टुकड़ा डाल दिया होगा! कुत्ता बेचारा दोनों तरफ से गया। यही दशा ऐसे लोगों की होती है। न वे लौकिक सुख पाते हैं और न लोकोत्तर सुख ही पाते हैं। हाँ. विवेकवान जन प्राप्त ऋद्धि को भी ठोकर मार कर आत्म-कल्याण में लग जाते हैं। बनारस का राजा अलख निरंजन राज-कीय वैभव का परित्याग करके संयमी बन गया। संयम का पालन करके अन्त में—

कर करनी गये मोक्ष नगर में, मिट गये कर्म कठोर।
दो हजार दो किया चौमासा; चौथमल्ल इन्दौर ॥७॥

राजर्षि अलख ने खूब तपस्या की। ज्ञान का उपार्जन किया और कर्मों का नाश करके केवलज्ञान प्राप्त करके उसी जन्म में मोक्ष

प्राप्त किया। यह भजन विक्रम संवत् २००२ में जब इन्दौर में चातुर्मास किया था, तब बनाया था।

भाइयो ! कहने का आशय यह है कि मनुष्यभव, आर्य क्षेत्र, उत्तम कुल, वीतरागप्ररूपित वाणी के श्रवण का सुयोग, आदि सब अनुकूल सामग्री प्राप्त हुई है, तो शक्ति के अनुसार धर्म-पुण्य का आचरण कर लो। मैं फिर सावधान करता हूँ कि ऐसा अवसर बार--बार हाथ नहीं आ सकता। अतएव चूको मत। लोभ--लालच, तृष्णा आदि के चंगुल में से निकलो। आत्मकल्याण के मार्ग पर लगो। ऐसा करोगे तो यह जीवन सार्थक हो जाएगा और अनन्त आनन्द के भागी बनोगे ! कहो भाई ! आनन्द ही आनन्द !*

भीम }
७-२-४६ }

*श्रीजैन दिवाकरजी महाराज के इस उपदेश के फलस्वरूप भीम में धर्मशाला बनवाने के लिए करीब ५,०००) रु० का चंदा एकत्र किया गया। रावत हजारीसिंहजी ने मद्य मांस का सदा के लिए त्याग किया।

# काम-विजय
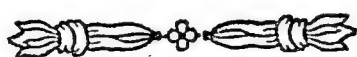
स्तुतिः—

चित्रं किमत्र यदि ते त्रिदशांगनाभि—
नीतं मनागपि मनो न विकारमार्गम् ।
कल्पान्तकालमरुता चलिताचलेन,
किं मन्दराद्रिशिखरं चलितं कदाचित् ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्त शक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? प्रभो ! आपके गुण कहाँ तक गाये जाएँ ?

भगवान् ऋषभदेवजी ने राज्य का परित्याग करके मुनिव्रत धारण किया और सर्वप्रथम कामदेव को ही जीता। काम को जीते विना ईश्वरत्व प्रकट नहीं हो सकता। जो मनुष्य काम के वशीभूत है, मानना चाहिए कि वह वासनाओं का दास है और जो वासनाओं

का दास है, वह वीतराग नहीं है। वीतरागता ईश्वरत्व का प्रथम सोपान है। जब आत्मा पूर्ण रूप से मोहनीय कर्म को क्षीण कर देता है, तभी उसमें पूर्ण वीतरागता प्रकट होती है। वीतरागता प्रकट होने पर चेतना सर्वथा निर्मल हो जाती है। विकार विनष्ट हो जाते हैं, कामनाओं का समूल उन्मूलन हो जाता है, आत्मा में परम निस्पृहता, अनन्त संतुष्टि, असीम शान्ति और निष्कलुषता आविर्भूत हो जाती है। इस प्रकार जब आत्मा में कोई भी विकार नहीं रहता और विकार का संस्कार भी नहीं रहता, तब अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन की प्राप्ति होती है। अनन्त ज्ञान और अनन्त दर्शन की प्राप्ति ही ईश्वरत्व की प्राप्ति है।

आत्मा के परमात्मा बनने का क्रम जैनशास्त्रों में अत्यन्त विशद रूप से वर्णन किया गया है। यहाँ उसका अति संक्षेप में उल्लेख किया जा रहा है। फिर भी इस संक्षिप्त कथन से यह तो स्पष्ट हो जायगा कि वीतरागता के पश्चात् ही सर्वज्ञता और सर्वदर्शिता आती है। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि जिसने कामवासना पर विजय नहीं पाई, वह ईश्वर पद का अधिकारी नहीं है।

नाम से हमें प्रयोजन नहीं है। परमात्मा का एक नाम नहीं है, अनेक नाम हैं। नाम तो लोकव्यवहार के लिए कल्पित किया जाता है। वह वस्तु का गुण या धर्म नहीं है। उससे वस्तु के स्वरूप का बोध नहीं होता। अतएव नाम कुछ भी हो, जिस आत्मा में परमात्मगुण प्रकट हो गये हैं, वही वास्तव में परमात्मा है। वही हमारा आराध्य है, पूजनीय है।

हम भगवान् ऋषभदेव को इसलिए वन्दन-नमस्कार नहीं करते कि उनका नाम ऋषभदेव है, बल्कि इसलिए करते हैं कि उन्होंने

दीर्घ साधना अर्थात् कठिन तपश्चरण करके परमात्मा को प्राप्त किया है--आत्मा को अपने असली शुद्ध स्वभाव में प्रकट किया है। हमारे आचार्यों ने इस विषय में बड़ा ही उदार दृष्टिकोण अपनाया है:—

**भवबीजांकुरजनना, रागाद्याः क्षयमुपागता यस्य ।**
**ब्रह्मा वा विष्णुर्वा, हरो जिनो वा नमस्तस्मै ॥**

अर्थात्--जन्म--मरण के बीज को उत्पन्न करने वाले राग द्वेष आदि विकारों को जिसने जड़मूल से उखाड़ कर फैंक दिया है, उस महापुरुष का नाम चाहे ब्रह्मा हो, विष्णु हो, या और कुछ भी क्यों न हो, मैं—उसके चरणों में वन्दना करता हूँ।

आचार्य हरिभद्र स्पष्ट शब्दों में कहते हैं—

**पक्षपातो न मे वीरे, न द्वेषः कपिलादिषु ।**
**युक्तिमद् वचनं यस्य, तस्य कार्यः परिग्रहः ॥**

अर्थात्—मुझे भगवान् महावीर के प्रति किसी प्रकार का पक्षपात नहीं है। कपिल आदि पर लेश मात्र भी द्वेष नहीं है। राग-द्वेष करने वाला धर्म की और ईश्वर की आराधना नहीं कर सकता। अतएव निष्पक्ष हृदय से विचार करना चाहिए और जिसका उपदेश तर्कसंगत प्रतीत हो, उसी के वचनों को ग्रहण करना चाहिए।

जो वीतराग है, अर्थात् समस्त अभिलाषाओं और विकारों से अतीत हो चुका है। और जिसने परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वह महान् आत्मा यथार्थ वक्ता ही होगा। उसके वचन में किसी प्रकार की अयथार्थता नहीं हो सकती। उसके कथन में तर्क से असंगति नहीं होगी।

कभी ऐसा अवसर आ सकता है कि वीतराग की वाणी और आपके तर्क में विरोध उपस्थित हो जाय। आगम प्रमाण वस्तुतत्त्व का निरूपण दूसरे प्रकार का करता हो और आपकी बुद्धि और ही कुछ बतलाती हो। ऐसे प्रसंग पर आप क्या करेंगे? वीतराग की वाणी पर विश्वास करेंगे अथवा अपने तर्क पर भरोसा करेंगे? इस प्रश्न का उत्तर आप अपने अन्तरात्मा से पूछिए। आप क्या करेंगे, यह मैं नहीं जानता; किन्तु ऐसे अवसर पर क्या करना चाहिए, यह मैं कह सकता हूँ।

आप जानते हैं कि तर्क का आधार मनुष्य का मस्तिष्क है। मस्तिष्क सदैव एक-सा नहीं रहता। अतएव तर्क की गति भी एक ही मार्ग पर नहीं होती। जैसे सरोवर में एक के बाद दूसरी लहर उठती रहती है, उसी प्रकार मस्तिष्क में नाना तर्क की तरंगें उठती रहती हैं। उन तरंगों में बह जाना योग्य नहीं है। मनुष्य को चाहिए कि वह पहले एक निश्चित आधार बना ले और फिर भले तर्क-वितर्क करे। निश्चित आधार का अर्थ है—सुदृढ़ श्रद्धा। श्रद्धा की मूल नींव पर ही तर्क-वितर्क का प्रासाद खड़ा होना चाहिए। अगर ऐसा न किया गया तो मनुष्य तरंगों में इधर-उधर बह कर टकराता रहेगा और कभी अपने नियत लक्ष्य पर नहीं पहुँच सकेगा।

इस विषय में दूसरी बात ध्यान रखने योग्य यह है कि हम जिन गूढ़ सिद्धान्तों पर तर्क-वितर्क करने चलें, पहले उनको भली भाँति समझने की पात्रता प्राप्त कर लें। अगर पात्रता प्राप्त नहीं की है, तो आप भ्रम में पड़ जाएँगे। आपकी समझ में कुछ भी नहीं आएगा। और यदि ऐसा हुआ तो यह दोष उन सिद्धान्तों का नहीं होगा, वरन् आपकी अपात्रता का होगा।

लोक में कहावत है—'छोटे मुँह बड़ी बात शोभा नहीं देती।'

इसका अर्थ यही है कि पर्याप्त योग्यता प्राप्त करके ही बात कहनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि जब तक आपने स्वाध्याय, ध्यान, चिन्तन, मनन और तपश्चरण के द्वारा अपनी बुद्धि को शुद्ध नहीं बना लिया है, जब तक आपकी विषयाभिलाषा दूर नहीं हो गई है और जब तक आपकी बौद्धिक योग्यता पर्याप्त गंभीर नहीं बन गई है, तब तक आप अपनी बुद्धि पर पूरी तरह निर्भर नहीं रह सकते। आपको वीतराग की वाणी पर विश्वास करके ही अपना मार्ग तय करना होगा।

इसका अर्थ यह भी नहीं है कि आप अपने सहज ज्ञान को गिरवी रख कर चलें। जो बातें आपकी बुद्धि के गोचर हैं, उन पर आप अपनी ही बुद्धि से विचार करें और अपने अनुभव के विरुद्ध किसी की बात न मानें।

इस प्रकार जो विषय तर्कगम्य हैं, उन पर तर्क से विचार करना चाहिए और जो विषय तर्कगोचर नहीं हैं—केवल आगम गम्य हैं अर्थात् श्रद्धा करने योग्य हैं, उन पर श्रद्धा करनी चाहिए। उदाहरणार्थ—वस्तु अनेक धर्मात्मक है अथवा एकान्त रूप है? यह एक ऐसा विषय है जिस पर हम तर्क और अनुभव से विचार कर सकते हैं। अहिंसा धर्म है या हिंसा धर्म है? इस प्रश्न को भी अपने स्वानुभव से हल किया जा सकता है। हमारा अनुभव और तर्क बतलाता है कि प्रत्येक वस्तु अनेकान्त रूप है। ऐसी स्थिति में अगर कोई एकान्त का निरूपण करता है तो वह युक्ति से विरुद्ध है और उसकी बात मान्य नहीं हो सकती। यही बात हिंसा-अहिंसा के संबंध में समझनी चाहिए। हिंसा तीन काल में भी धर्म नहीं हो सकती और अहिंसा तीन काल में अधर्म नहीं हो सकती। यह हमारा अनुभव है। इस अनुभव के विरुद्ध यदि कोई हिंसा को धर्म

कहता है तो उसका कथन मान्य नहीं होगा, फिर कहने वाला कोई भी क्यों न हो !

तात्पर्य यह है कि जो सर्वज्ञ-सर्वदर्शी है, उसकी वाणी संशय से पर है। उस पर हमें विश्वास रखकर ही अपनी साधना में अग्रसर होना चाहिए। इसी प्रकार जिसमें परमात्मिक गुणों का आविर्भाव हो गया है, उसी को देव या भगवान् मानना चाहिए। नाम के मोह को छोड़ कर गुणों का ही विचार करना चाहिए।

यहाँ भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति की गई है। भगवान् में अनन्त गुण हैं। उन सब गुणों का स्तवन करना संभव नहीं है। अतएव इस श्लोक में उनकी एक ही विशेषता प्रकट की गई है। वह विशेषता भगवान् की निष्कामवृत्ति है। आचार्य मानतुंगजी महाराज कहते हैं कि देवांगनाएँ अनेक प्रकार के हाव-भाव दिखलाकर भी आपके मन को विकार की ओर नहीं ले जा सकीं। उनकी मोहजनक चेष्टाएँ आपके मन पर तनिक भी असर न डाल सकीं इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है ? प्रलयकाल का तूफान पर्वतों को हिला सकता है, पर गिरिराज सुमेरु को नहीं हिला सकता ! इसी प्रकार अप्सराएँ साधारण जनों के चित्त में मोह उत्पन्न कर सकती हैं; कदाचित् अन्य योगियों के चित्त को भी क्षुब्ध कर सकती हैं, परन्तु वीतराग प्रभु के चित्त पर लेश मात्र भी प्रभाव नहीं डाल सकतीं।

भाइयो ! तीर्थंकर भगवान् की एक इसी विशेषता में उनकी सब विशेषताओं का समावेश हो जाता है। क्योंकि काम-वासना समस्त दुर्गुणों का प्रतीक है और काम को जीत लेना समस्त विकारों को जीत लेने का चिह्न है। जिसने काम को जीत लिया, उसने सभी दोषों को जीत लिया समझिए। वास्तव में काम को जीतना बड़ा ही कठिन कार्य है। कहा है—

भिक्षाशनं तदपि नीरसमेकवारं,
शय्या च भूः परिजनो निजदेहमात्रम् ।
वस्त्रं च जीर्णं शतखण्डमयी च कन्था,
हा हा तथापि विषयान्न परित्यजन्ति ॥

एक योगी है जो भिक्षा मांगकर उदारनिर्वाह करता है । भिक्षा में भी वह नीरस आहार लेता है और वह भी दिन भर में एक वार ! जमीन पर सोता है । उसके आसपास दूसरा कोई नहीं रहता । बस, उसका शरीर ही उसका परिजन है । फटे--पुराने चींथड़े पहनता है और सौ--सौ टुकड़ों वाली गुदड़ी ओढ़े फिरता है । फिर भी अफ-सोस की बात है कि वह विषय वासना को नहीं त्याग सकता !

और भी सुनिये:—

विश्वामित्रपराशरप्रभृतयो वाताम्बुपर्णाशना—
स्तेऽपि स्त्रीमुखपंकजं सुललितं दृष्ट्वैव मोहं गताः ।
शाल्यन्नं सघृतं पयोदधियुतं ये भुञ्जते मानवा—
स्तेषामिन्द्रियनिग्रहो यदि भवेद् विन्ध्यस्तरेत्सागरे ॥

विश्वामित्र और पराशर आदि ऋषि-जिनका वैदिक धर्म के पुराणों में वर्णन आता है, कोई हवा खाकर तप करते थे, कोई कोरा पानी पीकर तपस्या करते थे और कोई वृक्षों के स्वतः गिरे हुए पत्ते खाकर ही रहते थे, वे भी स्त्री का मुख-कमल देखते ही मोह के वशीभूत हो गये । ऐसी स्थिति में जो लोग शालि-अन्न का और वह भी घी, दूध और दही के साथ सेवन करते हैं, वे अपनी इन्द्रियों को कैसे काबू में कर सकते हैं ? उनकी इन्द्रियों का काबू में हो जाना वैसा

ही है, जैसा समुद्र में विन्ध्य पर्वत का तिरना ! अर्थात् असंभव है।

किसी कवि ने यथार्थ ही कहा है:—

**प्राणिघातकवीराश्च, बहवः सन्ति भूतले ।**
**कन्दर्पघातको वीरः, क्वचित्तिष्ठति वा न वा ॥**

मनुष्य आदि प्राणियों का विनाश करने वाले वीर तो इस भूतल पर बहुत से हैं, किन्तु कामवासना का विनाश करने वाला वीर शायद ही कहीं हो या न हो ! अर्थात् कोई विरला ही होता है।

जिन भगवान् ऋषभ ने काम रूपी प्रचण्डतम रिपु को नष्ट कर दिया, उन्होंने समस्त असाधारण सद्गुणों को प्राप्त कर लिया। ऐसे भगवान् ऋषभदेव हैं, उन्हीं को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

भाइयो ! संसार मार्ग की ओर ले जाने वाली पाँच बातें हैं। कहा भी है—

**वत्थगंधमलंकारं इत्थीओ सयणाणि य।**

मन को संसार की ओर ले जाने वाली पहली वस्तु वस्त्र है, क्यों कि वस्त्र की ओर ही सब से पहले दृष्टि आकर्षित होती है। वस्त्र कई प्रकार के होते हैं, रेशम के, मखमल के, जरी के, आदि-आदि। इनमें भी सैकड़ों किस्में होती हैं। उनकी चमचमाहट निराली होती है। दीपावली आदि त्यौहारों के अवसर पर जब बजाज लोग अपनी कपड़े की दुकान सजाते हैं, तो बरबस दर्शकों का चित्त उस ओर आकर्षित हो जाता है और वे चलते--चलते खड़े हो जाते हैं। बंबई जैसे शहरों में कपड़े की किस्में देखने में आवें तो कुछ न कुछ लेने की तबीयत हो ही जाती है। और कुछ नहीं तो घर वाली के लिए एक साड़ी लेने के दिल मचल ही जाता है।

वस्त्र धारण करने का उद्देश्य लज्जा की रक्षा करना और शरीर को गर्मी-सर्दी के आघात से बचाना है। पहले इसी प्रयोजन से वस्त्रों का प्रचलन हुआ। जब तक यह उद्देश्य प्रधान रहा तब तक तो गनीमत रही, परन्तु धीरे-धीरे मनुष्य में फैशन का भाव जागृत हुआ। इस नवीन भावना की जागृति ने वस्त्र को शृंगार-प्रसाधन का रूप दे दिया। फिर तो यह हाल हो गया कि लज्जा की रक्षा तो एक किनारे धरी रह गई और शृंगार ही एक मात्र ध्येय बन गया!

आज मारवाड़ के नगरों में, ख़ास तौर से कुलीन महिलाएँ ऐसे वस्त्र पहनती हैं कि जिन्हें देख कर लज्जा को भी लज्जा आती है। वे मस्तक पर आभूषण धारण करती हैं परन्तु मोटा वस्त्र पहन लें तो आभूषण उससे छिप जाय। दूसरों को दिखलाई न दे। और दूसरों को दिखलाई न दे तो फिर उसका पहनना ही वृथा हो जाय! इस विचार से प्रेरित होकर अधिकांश बहिनें बारीक से बारीक वस्त्र पहनती हैं। उन वस्त्रों में मस्तक के आभूषणों के साथ केश भी दिखाई देते हैं! एक ओर हाथ भर का लम्बा घूंघट और दूसरी ओर यह बारीक वस्त्र देखकर विवेकी पुरुषों के खेद और आश्चर्य का पार नहीं रहता। आश्चर्य तो इस बात का कि पुरुष अपने परिवार की महिलाओं को कैसे यह लज्जाहीन वस्त्र खरीद कर देते हैं! और खेद इस बात का कि कुलीन बहिनें फैशन के मोह में फँस कर किस प्रकार निर्लज्ज बन जाती हैं!

सच पूछिए तो आज वस्त्र व्यवसाय ने भयानक रूप धारण कर लिया है। प्रतिदिन नये-नये नमूने तैयार किये जाते हैं और वे इतने लुभावने होते हैं कि जिसका ठिकाना नहीं। जिसके पास पेटियाँ की पेटियाँ भरी पड़ी हैं, वर्षों तक पहनने योग्य वस्त्रों का संग्रह है, वह भी नया नमूना देखकर लोभ संवरण नहीं कर सकता और झट उसे खरीद लेता है।

इस फैशन-परस्ती से आर्थिक हानि तो होती ही है, नैतिक हानि भी बड़ी जबर्दस्त हो रही है। फैशन परस्ती को चरितार्थ करने के लिए पैसा चाहिए और जब वह न्यायोचित तरीके से नहीं मिलता तो लोग अनीति, चोरी, बेईमानी और धोखादेही करके प्राप्त करते हैं और फैशन की आग में उसे भस्म कर देते हैं। इस प्रकार फैशन परस्ती अनीति और अधर्म को उत्पन्न करती है।

बहुमूल्य और सुन्दर वस्त्र पहनने वाले में अभिमान एवं ठसक की भावना उत्पन्न होती है। जब वह बाहर निकलता है तो अकड़ता हुआ चलता है। वह अपनी तुलना में दूसरों को तुच्छ और नगण्य समझता है। इस प्रकार वह अहंकार का पात्र बन जाता है।

भड़कीले वस्त्र पहनने वाला दूसरों के चित्त में भी वैसे ही वस्त्र पहनने का प्रलोभन उत्पन्न करता है। देखादेखी अनेक लोग कीमती वस्त्र पहनने की इच्छा करते हैं और पास में पैसा नहीं होता तो पापाचार करते हैं।

चटक-मटक वाले कपड़े जीवन को बहिर्मुख बना देते हैं। जीवन का वास्तविक और आन्तरिक सौन्दर्य इन वस्त्रों में छिप जाता है।

इस प्रकार वस्त्र का काम बड़ा जबर्दस्त है और इसी कारण इसे पाँच वस्तुओं में प्रथम गिना है।

दूसरी वस्तु गंध है। इत्र, तेल, फुलेल, चन्दन, केसर और कस्तूरी वगैरह की खुशबू भी मन को संसार की ओर खींचती है। यह नासिका का विषय है। सुगंध और दुर्गंध—दोनों ही मन को बिगाड़ देती हैं और मन को विकार के मार्ग पर ले जाती हैं। नाक

के इस विषय के लिए गुलाब, चमेली, मोगरा, केवड़ा आदि की खेती की जाती है। इनका उपयोग मुख्यतया सूंघने में ही होता है।

कानपुर जाते हुए हमें रास्ते में कन्नोज आया ! कन्नौज में स्थानकवासी परम्परा के अनुयायी पल्लीवाल भाई हैं । वे फूलों की खेती करते हैं। वहाँ इत्र खींचने की बड़ी-बड़ी भट्टियाँ और बड़े-बड़े कारखाने हैं। वहाँ गटर के पानी में भी इत्र की खुशबू आती है।

सुगंध मन को विषय की ओर प्रेरित करती है। सुगंध से आकृष्ट हुए सर्प चन्दन के वृक्षों से लिपटे रहते हैं। उन्हें सुगंध इतनी ज्यादा पसंद है।

उधर दिल्ली में मुगल बादशाह का राज्य था और इधर उदयपुर में महाराणा साहब का राज्य था। उस समय एक अत्तार इत्र लेकर राणाजी के पास आया। उसने गुलाब, खस, हिना वगैरह के अनेक नमूने बतलाए और बहुत कुशलता के साथ प्रत्येक की विशेषता का वर्णन किया। मगर उदयपुर के राणाजी युद्धक्षेत्र के खिलाड़ी थे। तलवार का उन्हें शौक था इत्र का नहीं। वह जानते थे कि इत्र विलासवृत्ति को बढ़ाने वाली वस्तु है। अतएव उन्होंने इत्र खरीदने से इंकार कर दिया।

अत्तार अपनी पेटी लेकर वापिस हुआ। वह गली में होकर जा रहा था और कह रहा था—इत्र राणाजी क्या ले सकते हैं ? इत्र तो बादशाह ही लेते हैं ! सामने से एक सेठ घोड़े पर सवार होकर आ रहा था। अत्तार के शब्द उसके कान में पड़ गये। सेठ ने पूछा—क्या कह रहे हो ? फिर तो कहो !

अत्तार जरा सहम गया। उसने कहा—दरबार के पास इत्र लेकर गया था, परन्तु उन्होंने नहीं लिया !

अत्तार ने इत्र दिखलाये और कहा-यह पचास रुपये तोले का और यह चालीस रुपये तोले का है !

सेठ ने कहा-बस, इसी कीमत के हैं ? तभी तो दरबार ने नहीं लिए ! हमारे यहाँ ऐसे इत्र तो घोड़ों के काम आते हैं !

अत्तार चकित रह गया। सेठ ने सारा इत्र घोड़े पर डलवा दिया और कीमत उसे चुकती दिला दी। अत्तार कहने लगा-वाह राणा बाबू वाह !

उसने दिल्ली के बादशाह के सामने राणाजी की तारीफ की। कहा-जहांपनाह, जैसे इत्र आप काम में लाते हैं, वैसे तो राणाजी के यहाँ घोड़ों पर डाले जाते हैं।

इधर राणाजी के दरबार में सभी तरह के आदमी थे। बड़े आदमियों के पास नेक सलाह देने वाले, गप्पें मारने वाले और चुगलखोर भी रहते हैं। चुगलखोर मौका नहीं चूकता। चुगली खाये बिना उसे चैन नहीं पड़ता।

हाँ तो एक चुगलखोर राणाजी के पास पहुँचा बोला-अन्न-दाता, आपने जो इत्र नहीं खरीदा था, उसे उस सेठ ने खरीद लिया और सारा का सारा अपने घोड़े पर डलवा दिया। उसने ऐसा करके हुजूर का अपमान किया है। अपना बड़प्पन जतलाया है।

दरबार ने सेठ को अपने पास बुलवाया और पूछा कि किस उद्देश्य से तुमने सारा इत्र खरीद कर घोड़े पर डलवाया ? सेठ ने सब वृत्तान्त बतला कर कहा-अन्नदाता, अत्तार की बात मुझसे सहन नहीं हो सकी। वह आपकी अवहेलना कर रहा था। मैंने आपकी-अपने अन्नदाता की-प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए ही ऐसा किया।

राणा को सेठ का उत्तर सुन कर सन्तोष हुआ। उन्होंने सेठ का सन्मान किया। यद्यपि राणाजी को इत्र का शौक नहीं था, तथापि सेठ की ऊँची भावना और वफादारी की उन्होंने कद्र की।

आशय यह है कि इत्र जैसे सुगंधित पदार्थ जीवन के लिए कोई उपयोगी नहीं है। वह तो सिर्फ विलासिता के साधन हैं। इनका प्रयोग करने से मन विकार की ओर जाता है। अतएव यह भी संसार के मार्ग हैं।

तीसरी वस्तु अलंकार 'हैं। सोने, चांदी, मोती और जवाह-रात आदि के आभूषणों-गहनों-को अलंकार कहते हैं। मोतियों-और हीरों की चूड़ियाँ ऐसी-ऐसी चमक-चमक करती हैं कि देखने वाले का मन तत्काल उनकी ओर खिंच जाता है। हमें तो सब घरों में गोचरी के लिए जाना पड़ता है, अतएव घर-घर का हाल सुनने में आ जाता है।

एक बार इन्दौर के बड़े सेठ के घर की महिलाएँ किसी गाँव जा रही थीं। गाँव स्टेशन से कुछ ही दूर था, अतएव वे पैदल चलीं। रास्ते में चोर छिपे थे। आप जानते हैं कि चोर और डकैत तो इसी फिराक में रहते हैं। उन्होंने सेठानियों को देखा तो बड़े प्रसन्न हुए। सोचने लगे-आज गहरा माल हाथ लगेगा।

चोर सामने आ गये। प्रायः बड़े घर की महिलाएँ भी बड़ी बुद्धिमती होती हैं। उन्होंने चोरों को सामने देखकर कहा-हमें लूट कर क्या करोगे ? सेठानियाँ तो पीछे हैं ! हम तो उनकी दासियाँ आगे-आगे इन्तजाम करने के लिए जा रही हैं। चांदनी रात में उन्होंने अपनी मोतियों की चूड़ियाँ बतलाईं। चोर समझे कि यह चांदी की हैं। इस प्रकार वे महिलाएँ बच कर निकल गई और अपनी बहुमूल्य-सम्पत्ति बचाने में समर्थ हो सकीं।

यह तो उनके पुण्य का उदय समझिए कि वे सकुशल बच कर जा सकीं। अन्यथा गहनों से बड़ी-बड़ी भयानक दुर्घटनाएँ होती हैं। मनुष्य को प्राण तक देने पड़ते हैं। ज्ञातासूत्र में विजय चोर का वर्णन आता है। उसने आभूषणों के लोभ में एक बालक को चुरा लिया और बस्ती से बाहर जाकर मार डाला था। यह तो शास्त्रों की बात है। मगर इतनी दूर जाने की आवश्यकता ही क्या है? आये दिन इस प्रकार के समाचार सुने जाते हैं कि गहनों की बदौलत अमुक के बालक के प्राण चले गये! अमुक स्त्री को कत्ल कर दिया गया! आश्चर्य है कि फिर भी यह बहिनें गहनों का लोभ नहीं त्याग सकतीं!

भाइयो! यह गहने भी मन को बिगाड़ देते हैं। चित्त में चंचलता उत्पन्न कर देते हैं। अतएव विकार-मार्ग से बचने के लिए गहनों से बचना आवश्यक है। याद रखना चाहिए कि जीवन में जितनी ज्यादा सादगी होगी, उतना ही अधिक संयम रह सकेगा। अतएव—

जीवन बहुत बनाओ सादा,
तड़क-भड़क में पड़ो न ज्यादा।

जीवन को सादगीमय बनाओ। सादगी जीवन को ऊँचा उठाती है। पाप से बचाती है और आरंभ-समारंभ से भी बचाती है। यह गहने आपके जीवन को हल्का नहीं, भारी बनाने वाले हैं। इनका मोह त्यागो। गहने गढ़वाने के लिए न मालूम कितने पाप-दोष करने पड़ते हैं। इन गहनों के अभाव में आपको कोई हानि नहीं होती।

चौथी वस्तु स्त्री है। पुरुष का मन स्त्री को देखकर बुरे रास्ते

पर चला जाता है और पुरुष को देख कर स्त्री का मन बिगड़ जाता है। इससे कितने घोर अनर्थ होते हैं, यह कहने की आवश्यकता नहीं। अनेक पुरुष, स्त्री के मोहजाल में फँस कर अपना धर्म भी त्याग देते हैं और जातपाँत को भी धता बता देते हैं। कई मुसलमान और कई ईसाई हो जाते हैं।

सच तो यह है कि पुरुष के लिए स्त्री और स्त्री के लिए पुरुष संसार में सब से बड़ा बन्धन है। इससे गाढ़ा और कोई बन्धन नहीं है। साधारण लोगों की तो बात ही अलग, कई साधु वेषधारी भी मौका पाकर किसी स्त्री को उड़ा कर भाग जाते हैं।

जब तक मनुष्य स्त्री के प्रलोभन से नहीं छूट जाता, तब तक वह धर्म की आराधना नहीं कर सकता! इस विषय में पहले ही कहा चुका है, अतः अब अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है। संक्षेप में यही समझ लीजिए कि कामलिप्सा मनुष्य को बर्बाद कर देती है। अतएव उससे निरन्तर बचने का प्रयत्न करना चाहिए। शास्त्रों में इस लिप्सा पर विजय पाने के अनेक उपाय बतलाये हैं। उन्हें समझ कर अमल में लाने से कामशक्ति वशीभूत हो सकती है।

मन को बिगाड़ने वाली पाँचवीं चीज शय्या है। शय्या में गद्दी, तकिया, मसनद और बिस्तर आदि सभी का समावेश हो जाता है। इनको देख कर भी मन में विकार उत्पन्न हो जाता है। जिसके पास पूंजी है, वह बढ़िया हवेली या बंगला बनवाता है। उसे सुन्दर फर्नीचर से और जरीदार मसनद आदि से सजाता है। मुलायम गादियाँ बिछाता है। इन सब को देख कर भी मन गलत रास्ते पर चला जाता है।

एक बादशाह के सोने के लिए उसके नौकर ने बढ़िया और

मुलायम सेज बिछाई। सेज बिछ कर तैयार हो गई तो नौकर का मन ललचाया। उसने सोचा—अभी बादशाह के आने में देरी है। तब तक थोड़ी देर मैं भी लेट कर देख लूँ कि इस शय्या पर सोने में कैसा मजा आता है? अपनी मिहनत का आनन्द तो मैं भी ले लूँ। यह सोच कर नौकर शय्या पर लेट गया। संयोग की बात कि नौकर को लेटते ही नींद आ गई। इतने में बादशाह सलामत भी आ पहुँचे। अपने बिस्तर पर नौकर को सोते देख आग बबूला हो गये। उन्होंने बेत लेकर दो-चार नौकर को लगा दिये। नौकर चिल्ला कर उठा। मगर दूसरे ही क्षण वह हँसने लगा। बादशाह आश्चर्य में पड़ गया कि यह मार खाकर हँस रहा है तो पागल तो नहीं हो गया है? आखिर बादशाह ने उसके हँसने का कारण पूछा। नौकर ने कहा-जिस शय्या पर जरा-सी देर सोने के कारण मुझे बेंत खाने पड़े, उस पर आप प्रतिदिन रात्रि भर सोते हैं। न जाने खुदा के घर आपको कितनी सज़ा मिलेगी।

बादशाह अपने नौकर की बात सुनकर काँप उठा। उसने कहा-तेरी बात तो ठीक है। एक दिन तो सब को मरना ही पड़ता है। मुझे भी मरना पड़ेगा। आगे क्या होगा, खुदा जाने।

बस, उसी दिन से मुल्क बुखोर का बादशाह खुदा की इबादत करने लगा। तात्पर्य यह है कि शय्या वगैरह से भी मन में विकार उत्पन्न हो जाता है।

भाइयो! संसार के यह सब सुख, दुःख के जनक हैं। जो सुख दुःखों के जनक हों, वे वास्तव में दुःख रूप ही हैं। जितने भी इन्द्रियों के विषय हैं, सबका परिणाम एक मात्र दुःख है। कहा भी है:—

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा ।
कामे पत्थेमाणा, अकामा जन्ति दुग्गइं ॥

उत्तराध्ययन, अ. ९-५३

यह कामभोग शल्य के समान हैं । शरीर के किसी भी भाग में घुसा हुआ कांटा जैसे कष्ट पहुँचाता रहता है, उसी प्रकार कामभोग भी दीर्घ काल तक कष्ट देते हैं । कामभोग विष के समान हैं । जैसे विष चेतना शक्ति को मूर्छित कर देता है, मनुष्य को बेभान बना देता है और मृत्यु का कारण बनता है, उसी प्रकार विषयों के सेवन से चेतना मलीन हो जाती है, मनुष्य हिताहित के विवेक से शून्य बन जाता है और पुनः पुनः मृत्यु का पात्र बनता है । विष और विषयों में अन्तर है तो यही कि विष एक बार मारता है और विषय अनेक बार मारते हैं । कामभोगों की अधिक विषाक्तता प्रकट करने के लिए शास्त्रकार कहते है कि काम सर्प के समान हैं । जैसे सर्प भयंकर होता है और उससे दूर रहने में ही कल्याण है, इसी प्रकार विषय भी आत्मा के लिए भयंकर हैं और उनसे दूर रहने में ही कल्याण है ।

श्रीउत्तराध्ययन शास्त्र में ही अन्यत्र भी कहा है:—

खणमित्तसुक्खा बहुकालदुक्खा,
पगामदुक्खा अणिगामसुक्खा ।
संसारमोक्खस्स विपक्खभूया,
खाणी अणत्थाण उ कामभोगा ॥

उत्तराध्ययन अ. १४ गा. १३

भाइयो ! कामभोग आपको सुखप्रद प्रतीत होते हैं । किन्तु

इनसे मिलने वाला सुख क्षणिक है-सदा काल की बात ही दूर, लम्बे समय तक भी नहीं ठहर सकता। परन्तु इनके सेवन से दुःख बहुत समय तक भोगना पड़ता है। यह कामभोग संसार से मुक्ति पाने में बाधक हैं और अनर्थों की खान हैं। अतएव भव्य जीवों को इनका परित्याग कर देना चाहिए।

भाइयो! आँखों में खुजली चलने पर मनुष्य खुजा लेता है और कोई मनाई करता है तो भी नहीं मानता। उस समय खुजाने में ही उसे सुख मिलता है। किन्तु बाद में जब जलन होती है तो पछताता है। इसी प्रकार यह भोग थोड़ी देर मजा देते हैं, किन्तु बाद में बुरी तरह पछताना पड़ता है।

कलाकंद में संखिया डाल दिया गया हो तो खाने वाले को पहले तो आनन्द आता है, किन्तु थोड़ी ही देर बाद सारे शरीर में ऐंठन आरंभ होती है और प्राणों से हाथ धोना पड़ता है। यही बात इन्द्रियों के भोगों के संबंध में है।

इन भोगोपभोगों की बदौलत दीर्घ काल पर्यन्त जो दुःख उठाने पड़ते हैं, उनका कहाँ तक जिक्र किया जाय? इस विषय में ललितांग कुमार का दृष्टान्त प्रसिद्ध है। ललितांग कुमार सम्पन्न सेठ का लड़का था। उसका पिता नगर में प्रतिष्ठित साहूकार गिना जाता था। मगर विषय भोग की कामना ने उसकी बड़ी दुर्गति की। उसे पाखाने के छेद में उलटा लटकना पड़ा। इस प्रकार यह कामभोग घोर अतिघोर दुःखों की खान हैं। जिसने भी इन्हें अपनाया, वह दुःखों का ही पात्र बना, अन्त में पछताया!

मणिरथ राजा ने विषयों की तृष्णा में फँस कर क्या पाया? राजा का छोटा भाई था—युगबाहु। युगबाहु की पत्नी

मदनरेखा अतिशय रूपवती थी और पतिव्रता थी। मणिरथ के अन्तःकरण में पाप की भावना जागृत हुई। वह मदनरेखा को अपनी विषयवासना का शिकार बनाने को उद्यत हुआ। उसे अनेक प्रलोभन दिये। मगर सती स्त्री संसार के किसी भी प्रलोभन में फँस कर अपने सतीत्व को बेचना पसंद नहीं करती। वह सब सुखों को छोड़ सकती है, सब प्रकार के कष्टों को सहर्ष स्वीकार कर सकती है, यहाँ तक कि हँसती हँसती प्राणों का उत्सर्ग भी कर सकती है, किन्तु बड़े से बड़े मूल्य पर सतीत्व को नहीं बेच सकती। मदनरेखा ने समस्त प्रलोभनों को बुरी तरह ठुकरा दिया।

मणिरथ के मन में निराशा का उदय हुआ। फिर भी वह मदनरेखा का मोह न छोड़ सका। उस पापी ने सोचा—जब तक इसका पति युगबाहु जीवित है, तब तक यह चंगुल में नहीं फँसेगी। किसी भी उपाय से युगबाहु को संसार से विदा कर दिया जाय तो झख मार कर यह मेरी अंकशायिनी बन जायगी !

हाय, अफसोस ! विषयवासना मनुष्य के हृदय को कितना कलुषित बना देती है, इसका यह नग्न दृष्टान्त है। मणिरथ आज पाप की वासना का शिकार होकर जघन्य से जघन्य कृत्य करने का विचार करने लगा। वह अपने छोटे भाई की जान लेने का अधमतम कार्य करने को उद्यत हो गया।

प्रथम तो मणिरथ ने अपने भाई का काम तमाम करने के उद्देश्य से खतरनाक लड़ाई पर उसे भेजा, किन्तु युगबाहु वहाँ से सकुशल वापिस लौट आया। तब मणिरथ उसे मौत के घाट उतारने के लिए दूसरे उपाय सोचने लगा।

एक बार युगबाहु अपनी पत्नी मदनरेखा के साथ नगर से बाहर किसी उद्यान में गया और रात्रि में वहीं ठहर गया। मौका पाकर मणिरथ वहाँ जा पहुँचा और युगबाहु को अपने सहोदर लघुभ्राता को-उसने मार डाला। लौटते समय उसे साँप ने काट लिया और वह भी बेमौत मर कर दुर्गति का अधिकारी बना।

जिनऋषि और जिनपाल नामक दो लड़कों की कथा ज्ञातासूत्र में आई है। और भी अनेकों दृष्टान्त प्रसिद्ध हैं, जिनसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विषयभोगों का परिणाम अत्यन्त दारुण होता है।

विषयवासना इस जीव को अनादि काल से संसार में भटका रही है। जीव का स्वरूप अनन्त आनन्द है। मगर जीव को अपने स्वरूप का वास्तविक बोध नहीं है। अतएव वह विषयजन्य आनन्द को ही अपना ध्येय मान लेता है और उसी को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील रहता है। वास्तव में विषयसुख, सुख नहीं सुखाभास है। वह सुख सरीखा प्रतीत होता है। मोही जीव इसी सुखाभास के प्रलोभन में फँस कर अपने जीवन को वृथा गँवा देता है। कहा भी है—

आनन्दरूपो निजबोधरूपो,
दिव्यस्वरूपो बहुनामरूपः।
तपःसमाधौ कलितो न येन,
वृथा गतं तस्य नरस्य जीवितम्॥

जिस मनुष्य ने आनन्दमय, निजात्मबोधमय, दिव्य रूप आत्मा के स्वरूप को नहीं समझा, उसका जीवन व्यर्थ ही गया।

तात्पर्य यह है कि जीवन की सार्थकता राजपाट, गगनचुम्बी प्रासाद, लक्ष्मी के अक्षय भंडार, आदर-सन्मान और पूजा-प्रतिष्ठा पाने में नहीं है; वरन् आत्मा के ज्ञानमय और आनन्दमय स्वरूप को समझने में है। बड़े से बड़ा ज्ञानी भी अगर आत्मा को नहीं पहचानता तो उसका ज्ञान व्यर्थ है। महीनों निराहार रह कर अनशन तप करने वाले तपस्वी ने भी यदि अपने शुद्ध सच्चिदानन्दरूप को न पहचान पाया तो उसका तप कायक्लेश ही रह गया। धर्म के उद्देश्य से की गई प्रत्येक क्रिया की सार्थकता आत्मबोध प्राप्त करने में ही है।

मनुष्य जब आत्मा के परमचिन्मय स्वरूप को पहचान लेता है, तब उसे स्वभावतः विषयों से विरक्ति हो जाती है। अतएव विषयवासना से बचने के लिए आत्मज्ञान प्राप्त करना ही सच्चा उपाय है। निरन्तर भावना और अभ्यास से ही विषयों की वासना नष्ट की जा सकती है।

भाइयो! प्रत्येक मनुष्य के जीवन की एक मुख्य अभिलाषा होती है। कोई बड़े से बड़ा विद्वान् बनना चाहता है, कोई लक्ष्मी का स्वामी होने की इच्छा करता है, कोई पहलवान बनकर कीर्त्ति उपार्जन करने की अभिलाषा करता है और कोई और कुछ होना चाहता है। जो जैसा बनना चाहता है, वह वैसे ही पुरुष को अपना आराध्य बनाता है, उसी का आदर करता है, उसी के आदर्शों पर चलता है। जिसने पहलवान बनने की अभिलाषा की है, वह पहलवान को ही अपना गुरु बनाता है। विद्या प्राप्त करने की इच्छा रखने वाला विद्वान् पण्डित का शिष्य बनता है। क्या आपने भी अपने जीवन का कोई ध्येय निश्चत किया है? आपने वीतराग भगवान् को अपना आराध्य माना है और संयमी साधुओं को गुरु

बनाया है। इससे तो यही जान पड़ता है कि आपके जीवन का लक्ष्य वीतराग बनना है। विषयवासना को आप जीतना चाहते हैं और निर्विकार बनने की इच्छा करते हैं।

क्या मेरा यह अनुमान सत्य है ? अगर सोच-समझ कर आपने देव और गुरु को अपनाया है, तब तो मेरा खयाल ठीक ही होना चाहिए। और यदि पूर्वजनों की मान्यता के कारण ही आप वीतराग के उपासक बने हैं, और उनके आदर्शों के प्रति अभिरुचि नहीं रखते, तो कहना चाहिए कि आप गलत राह पर चल रहे हैं। आपका लक्ष्य कुछ और है, उपासना कुछ और है !

भाइयो ! अपने असीम पुण्य का उदय समझो कि आपको वीतराग देव जैसे परमोत्कृष्ट आदर्श देव की उपासना का सुअवसर मिल गया है। आप उन्हीं के मार्ग पर चलो। सदैव वीतराग होने की भावना रक्खो। विषयवासना की तरफ चित्त को आकर्षित करने वाले संयोगों से बचो। सायं--प्रातः परमात्मा का ध्यान किया करो। आहार--विहार में सात्विकता और संयम का सदैव ध्यान रक्खो।

ऐसा करोगे तो भगवान् ऋषभदेव की तरह आप भी एक दिन पूर्ण विकारविजयी बन सकेंगे। आपकी चित्तवृत्ति ऐसी आत्मोन्मुखी बन जाएगी कि देवांगनाएँ भी आपके मन को हरण न कर सकेंगी। और जब ऐसी स्थिति हो जायगी तो अनन्त आनन्द का भंडार आपको प्राप्त होगा।

गोदाजी का गाँव
१०-२-४६ }

# ३

# पार्श्व जयन्ती

स्तुतिः—

शुम्भत्प्रभावलयभूरिविभा विभोस्ते,
लोकत्रयद्युतिमतां द्युतिमाक्षिपन्ती ।
प्रोद्यद्दिवाकरनिरन्तर भूरिसंख्या,
दीप्त्या जयत्यपि निशामपि सोमसौम्याम् ।

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फ़र्माते हैं-हे सर्वज्ञ सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवान्! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय! प्रभो! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ?

भगवान् ऋषभदेव, और अन्य समस्त तीर्थंकर जब अर्हत् अवस्था को प्राप्त होते हैं तो सुरविनिर्मित अष्ट महाप्रातिहार्य उनकी शोभा को मूर्त्तिमान् स्वरूप प्रदान करते हैं। वे आठ महाप्रतिहार्य

इस प्रकार हैं:— (१) अशोकवृक्ष (२) पुष्पवृष्टि (३) दिव्यध्वनि (४) चामर (५) प्रभामण्डल (६) सिंहासन (७) तीन छत्र और (८) देवदुन्दुभीनिनाद।

अनेक शाखाओं, विपुलसंख्यक पत्रों, पुष्पों और फलों से सुशोभित, दिग्--मण्डल में शुचि सौरभ विकीर्ण करने वाला एवं ध्वजा-पताकाओं से मण्डित अशोकवृक्ष अरिहंत भगवन्त पर छाया करता है। वह भगवान् से बारह गुना ऊँचा दृष्टिगोचर होता है। देववृन्द पन्चवर्ण के मनोज्ञ आमोदमय अचित पुष्पों की वर्षा करते हैं। भगवान् की दिव्यध्वनि श्रोताओं की विविध भाषाओं में परिणत होती है और अतिशय मधुर, प्रिय और मनोरम होती है। गौ के दूध और कमल--तन्तुओं से भी अधिक धवल उज्ज्वल बाल वाले तथा रत्नजटित दण्डों से युक्त चामर भगवान् के दोनों ओर हिलते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। देदीप्यमान सूर्य से भी अधिक तेजवाला और अन्धकार को विनिष्ट करने वाला प्रभामण्डल भगवान् के पृष्ठभाग में दिखाई देता है। कहते हैं, प्रभामण्डल के प्रभाव से भगवान् के चारों दिशाओं में चार मुख दृष्टि गोचर होते हैं। किसी भी दिशा से देखने वाले दर्शक को ऐसा प्रतीत होता है, मानों भगवान् का मुख मेरी ही ओर है! स्फटिकरत्न के समान निर्मल, झिलमिलाता हुआ, सिंह के स्कंध के संस्थान वाला, पादपीठिकायुक्त सिंहासन होता है और भगवान् उस पर विराजमान दिखाई देते हैं। चन्द्रमा के समान अत्यन्त धवल, अतिशय सुन्दर तीन छत्र, एक दूसरे के ऊपर, भगवान् के मस्तक पर सुशोभित होते हैं। आकाश में देवगण दन्दुभीनाद करते हैं, मानों तीनों लोकों में भगवान् के अमित यश का विस्तार करते हैं और भगवान् की अपूर्व एवं आसाधारण आध्यात्मिक विजय की तीनों लोकों में उद्घोषणा करते हैं।

इन आठ महाप्रातिहार्यों में से यहाँ भामण्डल का उल्लेख किया गया है। वह भामण्डल सूर्य के भी तेज को जीतने वाला और चन्द्रमा की उज्ज्वलता को भी जीतने वाला होता है। तीन जगत् में जितनी भी द्युतिमय वस्तुएँ हैं, उन सब की द्युति मिल कर भी उस भामण्डल की बराबरी नहीं कर सकती। भगवान् आदिनाथ में जो आन्तरिक अनन्त तेज है, भामण्डल उसका प्रतिबिम्ब-सा जान पड़ता है। इस प्रकार बाह्य और आन्तरिक तेज से विराजमान भगवान् ऋषभदेव को हमारा बार-बार नमस्कार हो !

ऋषभदेवजी या आदिनाथजी इस अवसर्पिणी काल के प्रथम तीर्थंकर हैं। उनके पश्चात् समय-समय पर तेईस तीर्थंकर और हुए हैं. जिनमें ज्ञातपुत्र वर्द्धमान स्वामी अन्तिम थे। भगवान् वर्द्धमान के निर्वाण से ४२२ वर्ष पूर्व भगवान् पार्श्वनाथ-तेईसवें तीर्थंकर-का जन्म हुआ था। आज भगवान् पार्श्वनाथ की जयन्ती है। अतएव आज उनके पावन चरित का वर्णन करना उचित होगा।

भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म भारत-विख्यात और प्राचीन काल से विद्या एवं सरस्वती का केन्द्र बनी हुई बनारस नगरी में हुआ था। संसार प्रसिद्ध इक्ष्वाकुवंश के प्रचण्ड-प्रतापी राजा अश्व-सेन आपके पिता और महारानी वामादेवी आपकी माता थीं। राजा अश्वसेन अतिशय प्रतिष्ठित वंश में उत्पन्न ही नहीं हुए थे, बल्कि उन्होंने अपनी वीरता, दानशूरता, नीतिनिष्ठता और कर्त्तव्य-पालन के द्वारा अपने प्रतिष्ठित वंश की प्रतिष्ठा में चार चाँद लगा दिये थे। आपकी पटरानी अर्थात् पार्श्वनाथजी की माता वामादेवी आदर्श महिला के समस्त सद्गुणों से सम्पन्न, पतिव्रता, शीलवती, धर्मपरायणा और वात्सल्यभाव की मूर्त्ति थीं।

प्रथम तो तीर्थङ्कर स्वयं ही अनेक जन्मों के शुभ संस्कार

लेकर आते हैं—जन्म जन्मान्तर की तपस्या के फल स्वरूप उन्हें तीर्थंकर गोत्र प्राप्त होता है; फिर सुयोग्य माता-पिता का संयोग मिल जाने से तो सोने में सुगन्ध ही हो जाती है। भगवान् पार्श्वनाथ का विस्तृत चरित एक दिन में पूरा नहीं सुनाया जा सकता, तथापि संक्षेप में सूचना दी जा सकती है कि उनके पिछले नौ भवों के वृत्तान्त को आप पढ़ें और देखें कि किस प्रकार उनका क्रम से विकास होता चला गया और उसके बाद दशवें भव में वे तीर्थङ्कर के रूप में उत्पन्न हुए।

पौष कृष्णा दशमी को, रात्रि के समय में पार्श्वनाथजी का जन्म हुआ। महान् पुण्यशाली पुरुष का पुण्य-प्रभाव समस्त लोक पर पड़ता है। इस नियम के अनुसार पार्श्वनाथजी के जन्म के समय मनुष्य लोक में और स्वर्ग लोक में ही नहीं, बल्कि नरकलोक में नारकी जीवों को भी कुछ क्षणों के लिए शान्ति मिली:—

जब तो आनन्द चौचन्द हुआ,
राजा को परमानन्द हुआ।
सम्पूर्ण लोक में हर्ष मचा,
ऐसा अपार आनन्द हुआ।

भाइयो! तीर्थङ्कर के जन्म की महिमा का वर्णन करना हम जैसों की शक्ति से बाहर है! मर्त्यलोक और स्वर्गलोक में अपूर्व आनन्द छा गया और निरन्तर दुस्सह यातनाओं के पात्र नारकी जीव भी कुछ समय के लिए यमदूतों परमाधामियों द्वारा पहुँचाई जाने वाली यातनाओं से बचे! उन्हें आराम की सांस लेने का अवसर मिला। और स्वर्ग लोक तथा मर्त्यलोक की तो बात ही

क्या पूछना है ? वहाँ तो समस्त देवगण और इन्द्रगण अपूर्व और अनिर्वचनीय उल्लास से परिपूर्ण हो गए ! इधर बनारस में आनंद की उत्ताल तरंगें उठने लगी। घर-घर में मंगलाचार होने लगा— हर्ष वधाइयाँ होने लगीं !

वास्तव में तीर्थङ्कर भगवान् की महिमा अपार और अचिन्त्य होती है। पार्श्वनाथजी का जन्म होते ही समस्त जगत् ने आनन्द का अनुभव किया। संसार के दुःख दूर हो गए। रोग शोक का काम नहीं रहा। बल्कि जिनकी आँखों में विकृति थी, वह भी देखने लगे। गूंगे मनुष्यों में भी बोलने की शक्ति आर्विभूत हो गई।

कोई कह सकता है कि आप अपने तीर्थंकर की महिमा का चित्र उपस्थित कर रहे हैं; मगर सत्य यह है कि तीर्थंकर की महिमा का यथातथ्य चित्रण करना ही मानव--सामर्थ्य से पर है तो उसमें अतिशयोक्ति करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। वस्तुतः तीर्थंकर भगवान् की पुण्यप्रकृति का प्रभाव निराला ही होता है। जिनके अमित माहात्म्य से ऊर्ध्वमुख कण्टक भी अधोमुख हो जाते हैं, उनके प्रभाव का वर्णन कैसे किया जा सकता है ?

कहा जा सकता है कि कण्टकों को इतनी समझ कहाँ से आई कि वे उलटे हो जाएँ ! मगर यह कौन नहीं जानता कि किसी के यहाँ पापड़ बने हों और कोई मासिक धर्मवती महिला उनके निकट से निकल जाय तो पापड़ों का रंग पलट जाता है। वे लाल हो जाते हैं। तो क्या उन पापड़ों को किसी ने टेलीफोन किया कि तुम लाल हो जाओ ? पापड़ किस प्रकार समझ गये कि ऋतुमती स्त्री के सामीप्य से हमें रंग पलट देना चाहिए ? वास्तव में यहाँ समझदारी की आवश्यकता नहीं। पुद्गल परस्पर में, अज्ञात रूप

से, एक दूसरे पर अपना असर डाले रहते हैं। उसके असर को हम जान पाते हैं, किन्तु उसके कार्यकारण भाव को ठीक तरह नहीं देख पाते। तीर्थंकर पुण्यप्रकृति, समस्त पुण्यप्रकृतियों में उत्तम और असाधारण है। वह अखिल विश्व को अपने प्रभाव से अभिभूत कर देती है। अतएव उसके प्रभाव से विस्मयोत्पादक घटनाओं का होना भी संभव है।

पार्श्वनाथजी का वर्ण पन्ने के समान नील था और एक अद्भूत आभा से मण्डित था। उनके चरणारविन्द पर सर्प के आकार की रेखाएँ थीं।

जब पार्श्वकुमार आठ वर्षके हुए तो पढ़ने के लिए उपाध्याय के पास भेजे गए। उपाध्याय ने अ, इ, उ, ऋ, आदि स्वर लिख कर अभ्यास करने के लिए दिये। किन्तु आपने उनसे आगे समस्त वर्णमाला लिखकर उपाध्याय को दिखा दी। उपाध्याय ने दस तक गिनती लिख कर दी तो आपने सौ तक लिखकर दिखला दी! उपाध्याय आपकी योग्यता देखकर विस्मित रह गए। फिर तो उन्होंने जो--जो प्रश्न किये, पार्श्वकुमार ने सभी के अत्यन्त पटुतापूर्ण उत्तर दे दिये! कुमार की यह असाधारण योग्यता देखकर उपाध्याय मन में सोचने लगे—महाराज अश्वसेन ने किस अभिप्राय से इन्हें मेरे पास भेजा है? मैं जो सिखा सकता हूँ वह सीखे हुए हैं यहाँ तक कि जो मुझे सीखना है वह भी इन्हें मालूम है! मैं इन्हें क्या सिखलाऊँ? क्या महाराज ने मेरी परीक्षा लेने के हेतु इन्हें मेरे पास भेजा है? आखिर उपाध्याय ने अत्यन्त प्रमुदित होकर कुमार को राजमहल भेज दिया और कहला दिया और कुमार सभी कुछ पढ़ कर आये हैं। मैं इन्हें क्या पढ़ाऊँ?

साधारण लोग, जिन्होंने आत्मा और पुनर्जन्म के सिद्धान्त

को हृदयंगम नहीं किया है, इस प्रसंग के प्रति अनास्था व्यक्त कर सकते हैं, किन्तु जिन्हें यह बात विदित है कि आत्मा जब पूर्वभव से आती है तो उस भव के विपुल संस्कारों को भी साथ लाती है और विशेषतः महापुरुषों की आत्मा अनेक भवों के प्रगाढ़ संस्कारों से समन्वित होकर जन्म लेती है, उन्हें इसमें कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिये ! जो तीर्थङ्कर जन्मकाल में भी अवधिज्ञान के धारक होते हैं, उनमें विशिष्ट श्रुतज्ञान का सद्भाव होना कौन बड़ा आश्चर्य है ? इसीलिए ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि जो मनुष्य अपने वर्त्तमान जीवन को सुसंस्कृत और पवित्र बनाता है, वह अपने भविष्य के जीवन को भी सुन्दर बनाता है; क्योंकि इस जीवन के शरीर का अन्त हो जाने पर भी आत्मा अनन्त है और वह पूर्वोपार्जित पूंजी से युक्त होकर परलोक में जाती है। अतएव मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह इसी लोक में रह जाने वाली द्रव्य पूंजी को प्राप्त करने के लिए जितना समय और सामर्थ्य लगाता है भाव पूंजी का उपार्जन करने में उससे कम तो न लगावे ! वह तो जन्म-जन्मान्तर में साथ जाने वाली वस्तु है।

आजकल भी कभी-कभी ऐसी घटनाएँ होती रहती हैं, जिनसे भलीभांति सिद्ध होता है कि आत्मा पूर्वजन्म के संस्कारों से प्रभावित होकर ही वर्त्तमान जन्म ग्रहण करती है। शान्ति बाई की पूर्वजन्म की स्मृति का विवरण अनेक समाचारपत्रों में प्रकाशित हुआ था। उसने अपने शैशवकाल में ही अपने पूर्वभव के कुटुम्बियों और मकान आदि को पहचान लिया था और ऐसी-ऐसी बातें बतलाई थीं कि जिनको वर्त्तमान जन्म में पता चलना उसके लिए संभव न था। ऐसी घटनाएँ यद्यपि अति विरल होती हैं, फिर भी उनसे पूर्वजन्म और पूर्वजन्म के संस्कारों का वर्त्तमान जन्म में आना सिद्ध होता है।

कुमार पार्श्वनाथ के प्रारम्भिक जीवन की एक घटना बहुत महत्त्वपूर्ण और प्रसिद्ध है। एक बार वे महल के छज्जे पर बैठे हुए नगर की शोभा का निरीक्षण कर रहे थे। उन्होंने देखा कि लोगों के झुण्ड के झुण्ड, हाथों में पत्र-पुष्प आदि लिए हुए, उमंग के साथ जा रहे हैं। उन्हें देखकर कुमार ने पूछताछ की तो पता चला कि यहाँ कमठ नामक एक बड़े तापस आये हैं। वे बड़े तपस्वी हैं। पंचाग्नि तप तपते हैं। उन्हीं की उपासना के लिये लोग जा रहे हैं।

कुमार भी तापस को देखने चल दिये। वहाँ पहुंचे तो उन्होंने देखा कि कमठ धूनी जला कर बैठा है। गांजे और सुलफे का दौर चल रहा है। भक्तगण आते हैं और तापस को गांजा आदि भेंट करते हैं और उसका गुल लेकर अपने को कृतार्थ समझते हैं! तापस की जटाएँ लम्बी लटक रही हैं और नशे के कारण उसकी आखें लाल-लाल हो रही हैं! यह सब दृश्य कुमार ने देखा।

कुमार ने फिर अवधिज्ञान का प्रयोग किया तो उन्हें एक बात और मालूम हुई। तापस की धूनी में एक मोटा-सा जो लक्कड़ जल रहा था उसमें सर्प और सर्पिणी का एक युगल जल रहा था। यह जानकर कुमार का नवनीत के सदृश मृदुल हृदय दया से द्रवित हो उठा! उन्होंने तापस से कहा-आप यह क्या कर रहे हैं? आग में नाग नागिनी जल रहे हैं।

तापस ने कुमार की बात सुनी तो उसकी लाल-लाल आखें और अधिक लाल हो गईं। वह बोला--मैंने तो सुना था कि यहाँ के राजकुमार बड़े धर्मप्रेमी और नीतिपरायण हैं! मगर आप तो तपस्वी जनों को मिथ्या कलंक लगा रहे हैं और धर्म गुरु की अवहेलना कर रहे हैं! क्या यह आपका धर्म और यही आपकी नीति

है ? तपस्या करना और कायक्लेश करना मुक्ति की साधना है।
यह मार्ग परम्परा से चला आ रहा है।

कुमार ने गम्भीर और धीर स्वर में कहा—काय क्लेश सहन करने मात्र से यदि मोक्ष मिल जाय तो नरक में सभी नारकी जीव कष्ट सहन करने के कारण मोक्ष प्राप्त कर लेते ! मोक्ष क्लेश सहन करने से नहीं, आत्मज्ञान से और सम्यक् अनुष्ठान से मिलता है। आत्मज्ञान की प्राप्ति तभी होती है जब दृष्टि शुद्ध और निर्मल हो और सम्यक् अनुष्ठान का अर्थ है—प्राणी मात्र को आत्मवत् समझ कर अहिंसा आदि का आचरण करना। आप तो केवल शरीर को तपा रहे हैं। इससे आत्मा पवित्र कैसे बन जाएगी ?

यह सुनकर तापस का कोप उग्र रूप धारण कर उठा ! उसने कहा—कुमार तुम धर्मद्वेषी जान पड़ते हो ! तपस्वी को हिंसक कहते हो !

कुमार ने शान्त ध्वनि से कहा—हाँ, मैं उस धर्म का विरोधी हूँ जिसने अधर्म का स्थान ग्रहण कर रक्खा है। मैं निर्भीक भाव से उस धर्म (!) का विरोध करना चाहता हूँ जो विश्व को मिथ्या पथ पर घसीटे लिये जाता है और सत्य से विमुख बनाता है। और ऐसी साधना से क्या आध्यात्मिक उत्कर्ष प्राप्त हो सकता है जिससे निरपराध पंचेन्द्रिय जीवों का वध होता हो ?

यह कह कर कुमार ने तापस की धूनी में सुलगते हुए लक्कड़ को जो फड़वाया तो उसमें झुलसा हुआ नाग-नागिन का एक जोड़ा निकला। फिर कुमार बोले—देखो तापस, तुम्हारी कचहरी में इस प्रकार निरपराध जीवों की हत्या होती हैं।

इसके पश्चात् कुमार पार्श्वनाथ ने उस जोड़े को अविलम्ब 'ओंअसिआउसाय नमः' का पावन मन्त्र सुनाया ! मन्त्र के अमित प्रभाव से युगल में से नाग धरणेन्द्र देव और नागिनी पद्मावती देवी हुई। इस प्रकारः—

**जलते नाग-नागिनी को प्रभु पारस आप बचाए लो।**

ये दोनों पार्श्वनाथजी के शासन सेवक देव हुए। तापस इस घटना से अत्यन्त लज्जित हुआ ! जनता पर उसका तो प्रभाव था, वह नष्ट हो गया। उसने संकल्प किया कि अगर मेरी तपस्या का कुछ फल हो तो मैं मर कर इस राजकुमार से बदला लूँ ! यद्यपि राजकुमार का अभिप्राय तापस का तिरस्कार करना नहीं था। वे तो उसे अहिंसा का महत्त्व दिखलाना चाहते थे, किन्तु अल्पसत्त्व जीव अपने दूषित विचारों के कारण भलाई को भी बुराई समझ लेते हैं ! तापस ने अपने अपमान का तो विचार किया, किंतु अहिंसा का विचार नहीं किया ! अन्त में तापस मरकर भवन-पति जाति का मेघमाली देव हुआ।

कमठ तापस मृत्यु के पश्चात् अज्ञान तप के प्रभाव से देव तो होगया किन्तु कुमार के प्रति उसका द्वेषभाव बना ही रहा !

प्रारम्भ से ही कुमार पार्श्वनाथ के हृदय में कितनी उग्र करुणा की भावना थी, इस तथ्य का पता उनके जीवन की अनेक घटनाओं से चलता है। एक घटना का उल्लेख किया जा चुका है, दूसरी और लीजिए।

उस समय वाणारसी नगरी के पश्चिम में कुशस्थल नाम का एक नगर था। उसके राजा प्रसेनजित ने अपनी सुन्दरी कन्या प्रभा-

वती का विवाह सम्बन्ध कुमार पार्श्वनाथ के साथ करने का निश्चय किया। यह वृत्तान्त सुनकर कलिंग देश के राजा ने कुशस्थल पर चढ़ाई कर दी। उसने प्रसेनजित से कहा—या तो प्रभावती को मेरे सिपुर्द करो या युद्ध करो !

प्रसेनजित अचानक हुए हमले का सामना नहीं कर सकते थे। अतएव उन्होंने सहायता प्राप्त करने के लिए महाराज अश्वसेन के पास अपना दूत भेजा। अश्वसेन ने उसी समय सेना को सन्नद्ध होने का आदेश दिया। कुमार को यह समाचार विदित हुए तो उन्होंने अपने पिता के सामने जाकर निवेदन किया—पिताजी, मेरी मौजूदगी में आपको कष्ट उठाने की क्या आवश्यकता है ? मैं आप सरीखे असाधारण शूरवीर नृपति का पुत्र हूँ। फिर न्याय की असीम शक्ति भी हमारे पक्ष में है। अतएव हमारी विजय सुनिश्चित है। इस बार मैं युद्ध में जाना चाहता हूँ।

अश्वसेन को कुमार की बात सुनकर प्रसन्नता हुई किन्तु उन्होंने कहा--वत्स, तुम्हारी भावन श्लाघ्य है, किन्तु तुम्हारी वय युद्ध के योग्य नहीं है। इस बार मुझे ही जाने दो !

कुमार ने दृढ़तापूर्वक कहा--पिताजी, क्या बालसूर्य भी सघन तमस्तोम को नहीं भेद डालता ? क्या शार्दूल-शावक शृगालों के दल को नहीं भगा देता ? इसी प्रकार मैं भी कलिंगराज के होश ठिकाने ला दूंगा।

आखिर कुमार सेना के साथ युद्धभूमि की ओर रवाना हुए। मार्ग में इन्द्र के द्वारा भेजा हुआ एक सारथी रथ के साथ मिला। उसने कहा--कुमारवर, महाराज इन्द्र ने यह रथ आपकी सेवा में भेजा है। अनुग्रह करके इसे स्वीकार कीजिए।

कुमार उसी रथ पर आरूढ़ होकर युद्धभूमि के निकट पहुँचे और योग्य स्थान पर सेना का पड़ाव पड़ गया। तत्पश्चात् उन्होंने कलिंगराज के समीप अपने दूत के साथ यह संदेश भेजा -संसार में न्याय की प्रतिष्ठा और रक्षा के लिए राजा की व्यवस्था की गई है। राजा न्याय को प्रतिनिधि हैं। यदि राजा स्वयं न्याय का उल्लंघन करने पर उतारु हो जाय तो न्याय का संरक्षण कौन करेगा ? आप कुमारी प्रभावती के साथ, उसकी इच्छा के विरुद्ध विवाह सम्बन्ध करना चाहते हैं। यह अनीति है, अधर्म है, इसके अतिरिक्त दोनों की सहमति के विना किया हुआ विवाह संबंध सुखप्रद नहीं सिद्ध हो सकता ! जो विवाह वर--वधू की इच्छा के विरुद्ध किया जाता है, वह जीवन को अशान्ति और असन्तोष ही दे सकता है। वह गृहस्थजीवन का वरदान नहीं, अभिशाप ही बनेगा ! इसके सिवाय विवाह आपका व्यक्तिगत विषय है। इसके लिए प्रजा के धन और जन का विनाश करना राजा के लिए उचित नहीं है ! अतएव कलिंग-राज ! आप अपने अयुक्त निश्चय को बदल दीजिए। यदि आपको यह मैत्रीपूर्ण परामर्श पसन्द नहीं है तो युद्ध अनिवार्य हो जाएगा और आप सहस्त्रों योद्धाओं के प्राणों की बलि देकर भी कृतसंकल्प नहीं हो सकेंगे। किसी मनुष्य के रक्त की एक बूंद बहाना भी मनुष्य के लिए घोर कलंक की बात होनी चाहिए।

कुमार का संदेश सुनकर कलिंगराज समझ गया। वास्तव में कोई मनुष्य कितना ही गया-बीता क्यों न हो, उसमें सद्भावना के अंश विद्यमान रहते ही हैं। इसके अतिरिक्त एक की सद्भावना या दुर्भावना का प्रतिबिम्ब भी न्यूनाधिक मात्रा में दूसरे पर पड़े बिना नहीं रहता। ऐसा न होता तो महान् योगियों के सान्निध्य में स्वभाव वैरी सिंह और मृग जैसे प्राणी किस प्रकार निर्विरोध भाव से विचरण करते ? कुमार के अन्तःकरण की करुणा ने कलिंगराज

की कुत्सित कामना को पलट दिया। वह समझ गया। उसने दूत को उत्तर दिया—कुमार के संदेश ने मुझे पथभ्रष्ट होने से बचा लिया है! मैं अभी उनकी सेवा में उपस्थित होता हूँ।

कलिंगराज कुमार के पास आया और उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशित करके अपनी सेना के साथ कलिंग की ओर प्रयाण कर गया!

कलिंगराज के चले जाने पर प्रसेनजित अपनी कन्या को साथ लेकर कुमार की सेवा में उपस्थित हुए। उन्होंने कहा-कुमार-वर! आपके प्रताप और प्रभाव का ही यह फल है कि कुशस्थल इस समय कुशलस्थल बन रहा है। आपके पावन पादारविंद न पड़े होते तो यहाँ भयानक रणचण्डी का नृत्य हो रहा होता! शोणित के नद बह रहे होते! किन्तु धन्य है आपका सौम्य प्रभाव कि आपका आगमन होते ही मानो आग ने शीतलता धारण कर ली! इस महान उपकार के प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करने का मेरे पास अन्य कोई साधन नहीं है। यह कन्यारत्न मेरे पास है। इसे स्वीकार करके मुझे कृतार्थ कीजिए।

कुमार ने कहा-महाराज! किसी प्रकार नरसंहार का निवारण करना और अनीति को उत्तेजन न मिलने देना ही मेरे यहाँ आने का उद्देश्य है। इसके अतिरिक्त किसी व्यक्तिगत स्वार्थ-सिद्धि के लिए मैं यहाँ नहीं आया हूँ. आप जो भेंट देना चाहते हैं, उसके लिए आभारी हूँ; किन्तु उसे स्वीकार न कर सकने के कारण क्षमा-प्रार्थी भी हूँ। माता-पिता के आदेश के बिना इस संबंध में मैं कुछ नहीं कह सकता।

यह विनयपूर्ण उत्तर सुनकर प्रसेनजित भी मौन हो गये। कुछ दिन बाद वे महाराज अश्वसेन से मिले। माता-पिता के

आग्रह से कुमार ने विवाह करना स्वीकार किया। वे गृहवास करते हुए भावना की दृष्टि से अलिप्त रहते थे !

कुछ काल गृहवास में रहने के पश्चात् कुमार के अंतःकरण में विद्यमान विरक्ति की भावना ने उग्र रूप धारण किया और एक वर्ष तक वर्षी दान देकर आपने भागवती दीक्षा धारण की। दीक्षा धारण करते ही मनःपर्यायज्ञान से विभूषित होकर भगवान् आत्मसाधना करते हुए विचरने लगे। एक बार विहार करते हुए आप तापसों के एक आश्रम के समीप होकर निकले। सूर्यास्त होने लगा। अतएव वहीं एक वटवृक्ष के नीचे ध्यान लगा कर खड़े हो गए। रात्रि में भगवान् के अनेक जन्मों का विरोधी और पूर्वभव का कमठ तापस-मेघमाली देव वहाँ आ पहुंचा। भगवान् पर दृष्टि पड़ते ही वह क्रोध की आग से जल उठा। उसने हाथी का रूप बनाया और घोर चिंघाड़ करता हुआ उनकी ओर लपका। भगवान् को सूंड में पकड़ कर उसने अनेक प्रकार के कष्ट दिये, किन्तु भगवान् मेरु की तरह अचल और अटल रहे।

देव ने भगवान् को अविचल देखकर सिंह और व्याघ्र का रूप धारण किया और जितना सता सकता था, सताया। किन्तु लोकोत्तर महापुरुष अपनी साधना से डिगते नहीं! देव ने आखिर अनेक बिच्छुओं के रूप की विक्रिया की, साँप का रूप भी धारण किया, किन्तु भगवान् को ध्यान से च्युत करने में समर्थ न हो सका।

देव को और अधिक क्रोध आया। आखिर उसने भगवान् को पानी में बहा देने के विचार से वर्षा आरम्भ की। बिजली चमकने लगी। बादल गड़गड़ाने लगे। मूसलधार

वर्षा बरसने लगी। सर्वत्र जल ही जल दृष्टिगोचर होने लगा। भगवान् घुटनों तक, कमर तक फिर छाती तक और फिर मुँह तक पानी में डूब गये। अब भी आपकी ध्यानमुद्रा अखंडित थी।

भगवान् पर आये हुए इस घोर उपसर्ग के कारण धरणेन्द्र का आसन काँप उठा। उसने अवधिज्ञान से भगवान् के उपसर्ग का वृत्तान्त जाना और उसी समय वहाँ आ गया। मेघमाली देव की करतूत पर उसे बहुत क्रोध हुआ। उसने मेघमाली को बुरी तरह फटकार कर कहा—दुरात्मन्! तू खद्योत होकर सूर्य का पराभव करना चाहता है? तुझे ज्ञात है कि आध्यात्मिक शक्ति विश्व में सर्वोत्कृष्ट और अजेय है! तू इस शक्ति को पराजित करने की चेष्टा करके पाप का उपार्जन क्यों कर रहा है?

धरणेन्द्र की फटकार सुनकर मेघमाली अतीव लज्जित हुआ। उसने प्रभु से क्षमायाचना की। धरणेन्द्र पद्मावती के साथ अपने स्थान पर चला गया। दीक्षा धारण करने के चौरासीवें दिन भगवान् को केवलज्ञान प्राप्त हो गया। अब प्रभु अरिहन्त होकर विचरने लगे।

तीर्थंकर भगवान् केवल ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् ही धर्मोपदेश प्रारंभ करते हैं। अतएव केवलज्ञानी होने पर पार्श्वनाथ ने जगत् के जीवों के कल्याण के लिए मुक्तिमार्ग का उपदेश दिया।

एक वार भगवान् के ज्येष्ठ अन्तेवासी ने उनसे प्रश्न किया-भगवन्! कमठ कैसे आपका विरोधी बना और क्यो

उसने आपको कष्ट दिया ? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फ़र्माया–कमठ का जीव नौ वर्ष से हमारे साथ था । पूर्व के नौवें भव में हम दोनों सगे भाई थे। हमारे पिता राज्य के मंत्री थे। पिताजी के देहावसान के अनन्तर हमारे इस बड़े भाई को राजा ने मंत्रीपद पर नियुक्त किया। मैं साधु-सन्तों की संगति में रहता था और इस कारण मुझे शीलधर्म प्यारा लगता था। इसने किसी प्रकार मेरी पत्नी को वश में कर लिया। मैंने राजा के समक्ष फरियाद की तो इसे देशनिर्वासन का दंड दिया गया। यह तापस बन कर तपस्या करने लगा। मैंने सोचा–आखिर तो मेरा भाई है ! तापस बन गया है तो मुझे उसके दर्शन करने जाना चाहिए ! यह विचार कर मैं दर्शन करने गया और ज्यों ही नमस्कार करने के लिए मैंने मस्तक झुकाया कि इसने एक शिला मार कर मेरे प्राण ले लिये।

इसके बाद भी इसका वैर उपशान्त न हुआ। एक जन्म में मैं मुनि बना और यह शिकारी बना और इसने तीर मार कर मेरे प्राणों का अन्त कर दिया।

इस प्रकार पिछले नौ भवों से यह मेरा विरोधी है। वैर की परम्परा कितनी लम्बी चलती है और कितना दुष्परिणाम उत्पन्न करती है, यह समझने के लिए कमठ और मेरे जीवन का यह इतिहास सहायक है।

भाइयो ! भगवान् पार्श्वनाथ आज से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व हुए हैं। किन्तु आज तक उनका नाम अमर है। भगवान् महावीर की अपेक्षा भी भगवान् पार्श्वनाथ से साधारण जनता अधिक परिचित है। कुछ समय पूर्व इतिहासज्ञ लोग पार्श्वनाथजी के अस्तित्व को प्रामाणिक मानने में शंका

व्यक्त करते थे, किन्तु जैन साहित्य के अब तक के प्रचार और प्रकाशन से उनकी शंका दूर हो गई है और अब वे प्रायः निर्विवाद रूप से ऐतिहासिक महापुरुष माने जाते हैं। हमारा तो ख्याल है कि जैसे-जैसे जैनसाहित्य का प्रचार बढ़ेगा, उसकी ऐतिहासिक परम्परा पुरातन से पुरातन सिद्ध होती जाएगी। किन्तु वणिक् समाज की साहित्य की ओर जो उपेक्षावृत्ति है, वह खेदजनक है। उसने अभी तक साहित्य के महत्त्व को समझा ही नहीं है। यही कारण है कि आज हमारे समस्त आगम भी व्यवस्थित रूप से लोकभाषा में अनूदित होकर प्रकाश में नहीं आये और जो प्रकाश में आये वे सुलभ नहीं है!

विक्रम सं० १९८४ में, जब मैं यहाँ (पाली) आया था तो यहाँ की जनता ने चार अगते पलवाने का वचन दिया था और मुझे यह जानकर सन्तोष है कि वे अभी तक पाले जा रहे हैं। उन चार अगतों में महावीर जयन्ती, पार्श्वनाथ जयंती, संवत्सरी और निर्जला एकादशी के अगते हैं। जैन और वैष्णव सभी भाई मिल कर इनका पालन करते कराते हैं। आज भगवान् पार्श्वनाथजी की जयन्ती का अगता आपके यहाँ पाला जा रहा है। इसके लिए मैं पाली की धर्मप्रेमी जनता को सराहना करता हूँ।

भगवान् पार्श्वनाथ का उपदेश बड़ा ही उत्तम, कल्याणकारी और प्रशस्त है। इहलोक और परलोक में अत्यन्त मंगलमय है। वह आत्मा को, मानव जाति को और विश्व को ऊँचा उठाने वाला है। उन्होंने उपदेश दिया कि तुम अपने आपको सुखी बनाना चाहते हो तो जुआ मत खेलो, क्यों कि जुआ खेलने वाला निरन्तर आर्त्तध्यान में फँसा रहता है और

उसका चित्त ईश्वरभजन में नहीं लगता। सट्टा भी जुआ का ही एक अंग है। सटोरिया का मन रोटी खाने में भी नहीं लगता तो भगवद्भक्ति में कैसे लग सकता है ? वह अपने बाल बच्चों की भी चिन्ता नहीं करता तो ईश्वर की चिन्ता किस प्रकार कर सकता है? सट्टेबाज़ एक रुपये के साथ सौ चिन्ताएँ उपार्जन करता है और जब अपनी पूंजी गँवाता है तो सुख-शान्ति भी गँवाता है। उसे न लाभ में सन्तोष और न हानि में ही सन्तोष ! जब देखो तभी हाय-हाय ! इस प्रकार जीवन की शान्ति को हरण करने वाले और आत्मा का पतन करने वाले जुए का परित्याग करना ही श्रेयस्कर है !

फिर भगवान् ने मांसभक्षण का निषेध किया। मांसाहारी के अन्तःकरण में करुणा का एक भी कण शेष नहीं रहता ! मांसभक्षण करना अत्यन्त घोर पैशाचिक कृत्य है। भगवान् ने मदिरापान करने का भी निषेध किया। परस्त्री की ओर बुरी नज़र डालने का भी निषेध किया। शिकार करने और वेश्या-गमन के पाप न करने के लिए समझाया ! भगवान् ने यह भी समझाया कि आपस में प्रेम के साथ रहो—सब के साथ स्नेहपूर्ण व्यवहार करो। किसी के साथ लड़ाई-झगड़ा मत करो। संसार में प्रेम बड़ी चीज़ है ! प्रेम में परमात्मा का वास है। प्रेम का माधुर्य रसना को नहीं वरन् अन्तरात्मा को भी तृप्त करने वाला है। प्रेम में ही संगठन है ! प्रेम के अभाव में संगठन नहीं होता और जहाँ संगठन नहीं होता वहाँ एकता नहीं होती। एकता के बिना कल्याण नहीं। जहाँ फूट पड़ जाती है वहाँ विनाश के सिवाय और क्या हो सकता है ?

चार लड़के कहीं जा रहे थे एक लड़का ठाकुर का,

एक ब्राह्मण का, एक वैश्य का और एक नाई का था। मार्ग में उन्हें ईख का खेत मिला। वे चारों खेत में घुस गए और ईख तोड़ कर खाने लगे। खेत का मालिक किसान आया और उसने कहा—क्या कर रहे हो? तब चारों अकड़ कर बोले क्या कर रहे हैं? ईख खा रहे हैं! चुपचाप खड़ा रह!

किसान ने सोचा—मैं अकेला हूं और यह चार हैं! यों काम नहीं चलेगा। युक्ति से काम लेना चाहिए! यह सोच कर उसने कहा—अच्छी बात है। यहाँ आइए, बैठिए! मैं अच्छी-अच्छी ईख तोड़ कर आपको देता हूं। चारों लड़के किसान के पास आ गए। तब किसान ने ठाकुर के लड़के से कहा—देखिए कुंवर साहब! आप मालिक हैं, ब्राह्मण हमारे गुरु हैं और महाजन भी ठीक है, परन्तु यह नाई का लड़का किस काम का है? मैं तो इसकी खबर लूँगा!

तीनों बोले—बात ठीक है, नाई का लड़का किस काम का!

इतना सुनते ही किसान ने उसको पीटा और उसकी मुश्कें बाँध दीं! तत्पश्चात् किसान आकर कहने लगा—और यह महाजन का लड़का भी किस काम का है? आप काम के और पुरोहितजी काम के हैं! यह तो व्याज खाऊ है! मैं इसकी भी खबर लूँगा! दोनों लड़कों ने कहा—हाँ, बात तो ठीक है! इच्छा हो सो करो!

बस, किसान ने महाजन के लड़के की भी मरम्मत की और उसे भी बाँध दिया। तत्पश्चात् किसान ने कहा—कुंवर जी, आप तो मालिक हैं, परन्तु यह पुरोहितजी का छोकरा

किस काम का है ? यह तो चोरियाँ करता-फिरता है ! कभी काम पड़ता है तो पहले टका धरवा लेता है ! मैं तो इसकी भी खबर लूँगा ! ठाकुर के लड़के ने इस बात का विरोध नहीं किया तो किसान ने उसके भी हाथ बाँध कर पटक दिया !

अब रह गया अकेला ठाकुर का लड़का ! किसान ने उससे कहा-अपना भला चाहो तो सीधे गाँव में चलो; अन्यथा तुम्हारी भी यही दशा करूँगा ।

किसान चारों को लेकर गाँव में आया । लोगों ने पूछा-अरे, यह क्या ? चार को अकेला बाँध लाया ? तब किसान ने हँस कर कहा-मैंने राजनीति से काम लिया है !

किसान चारों लड़कों को ठाकुर के पास ले गया । ठाकुर ने सब वृत्तान्त जानकर किसान की बुद्धि की प्रशंसा की और कहा-तूने इन लड़कों को ही शिक्षा नहीं दी, किन्तु सारे गाँव को शिक्षा दी है ! वास्तव में जहाँ एकता और संगठन है वहाँ शक्ति है, बल है और विजय है जहाँ फूट है वहाँ बर्बादी है, विनाश है और पराजय है ! यह लड़के एक होते तो इनकी यह दशा न होती !

भाइयो ! इस फूट ने हमारे देश को और समाज को बड़ी हानि पहुँचाई है । जहाँ कहीं भी फूट के अंकुर उगते हैं, वहाँ सिवाय सत्यानाश के और कुछ नहीं हो सकता ! फूट एक मनुष्य को दूसरे मनुष्य का शत्रु बनाती है; एक अखण्ड परिवार को खण्ड-खण्ड कर देती है ! इससे जो हानियाँ होती हैं, उनका वर्णन करना संभव नहीं है । यही कारण है कि संसार के सभी धर्म एकता और प्रेम का अमृतमत संदेश सुनाते हैं । गीता को

देखो, जैनागमों को देखो, कुरान को देखो या बाइबिल को देखो, सब जगह प्रेम का संदेश ही पढ़ने को मिलेगा । अतः—

टूट जाय न माला कहीं प्रेम की,
वरना अनमोल मोती बिखर जाएँगे ।

भाइयों ! फूट की दृष्टि से मत देखो किन्तु प्रेम की दृष्टि से देखो । प्रेम रूपी माला के मणियों को मत बिखरने दो । भगवान् पार्श्वनाथ ने प्रेम का पाठ पढ़ाया है और यही उपदेश दिया है कि प्रेमपूर्वक रहो । बुरे कामों से परहेज़ करो । किसी भी प्राणी को अपनी ओर से तनिक भी पीड़ा न पहुंचने दो । असत्य भाषण न करो । अपने अधिकार से बाहर की वस्तु को ग्रहण मत करो । परधन और परनारी पर मत ललचाओ । तृष्णा-लोभ को त्यागर सन्तोष की भावना को अन्तःकरण में विकसित और वृद्ध करो । लोभ से सब पापों में प्रवृत्ति होती है । जितना लोभ करोगे उतनी ही गरीबों के गले पर छुरी फेरोगे ! सौ हजारपतियों को गरीब बनाकर एक लखपति बनता है ! लखपति बनकर जिसने गरीबों की सहायता नहीं की, वह उस संचित किये धन का क्या करेगा ? छाती पर बाँध कर परलोक में ले जाएगा ? चक्रवर्त्ती की असाधारण ऋद्धि भी जब यहीं पड़ी रह जाती है तब, ऐ श्रीमन्त ! तेरी लक्ष्मी कैसे तेरे साथ जाएगी ? मैं कहता हूं, परलोक ले जाने की बात तो दूर रही, इसी जन्म में भी तुम उसे नहीं बचा सकोगे ! आज संसार में जो वायुमण्डल बन रहा है और इस देश में भी जनता में जो विचारधारा फैल रही है, उसे तुम समझने की चेष्टा करोगे तो स्पष्ट सूझ पड़ेगा कि अब अतीत काल की वह आर्थिक व्यवस्था

अधिक दिन टिकने वाली नहीं है ! नवजागरण बड़ा बलवान् है और धनी-निर्धन के बीच का बृहद् अन्तर अब रहने वाला नहीं है। अतएव पहले से ही समझबूझ कर अपनी सम्पत्ति को गरीबों की सेवा-सहायता में समर्पित करो। उस पर से ममता घटाओ।

भगवान् पार्श्वनाथ का संदेश अमर है और महान् उत्कर्ष करने वाला है। जो भव्य जीव उसके अनुसार आचरण करेगा, उसका जीवन इस लोक में भी और परलोक में भी महान् और उत्कृष्ट बन जाएगा।

इतिहासवेत्ताओं का कथन है कि भगवान् पार्श्वनाथ के समय में, धर्म के संबंध में, सैकड़ों प्रकार की भ्रमणाएँ फैली हुई थीं। जनता धर्म के मर्म को-धर्म की आत्मा को-भूली हुई थी। बाह्य क्रियाकाण्ड, कायक्लेश, अज्ञानतप और पशु हिंसात्मक यज्ञ-याग में ही लोगों ने धर्म की कल्पना कर रक्खी थी ऐसे समय में भगवान् पार्श्वनाथ ने केवलज्ञान प्राप्त करके धर्म का वास्तविक स्वरूप समझाया। उन्होंने अध्यात्म का शिक्षण देकर मनुष्यों को मोक्षमार्ग में लगाया।

भगवान् पार्श्वनाथ की शिष्य परम्परा भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् तक चलती रही थी। एक बार श्रावस्ती में पार्श्वपरम्परा के आचार्य केशी स्वामी और महावीर परंपरा के आचार्य गौतम स्वामी एकत्र हुए और दोनों के संघ सम्मिलित हो गए।

भाइयो ! भगवान् पार्श्वनाथ की जयन्ती आप उनके पवित्र उपदेशों का स्मरण और अनुसरण करके मनाएँ। इससे

आपका यह दुर्लभ मानवजीवन सफल और कृतकृत्य होगा। भगवान् द्वारा प्रदर्शित पथ आत्मकल्याण का राजमार्ग है। अनन्त प्राणियों ने इस पथ पर अग्रसर होकर अपना कल्याण किया है और भविष्य में भी करेंगे। अन्तरंग को शुचि बना कर पार्श्व प्रभु की शरण ग्रहण करोगे तो आनंद ही आनंद होगा।

पाली }
पार्श्वनाथ जयन्ती }

## ४

# भावना भयनाशिनी

स्तुतिः—

मन्दारसुन्दरनमेरुसुपारिजात-
सन्तानकादिकुसुमोत्करवृष्टिरुद्धा ।
गन्धोदबिन्दुशुभमन्दमरुत्प्रपाता,
दिव्यः दिवः पतति ते वचसां ततिर्वा ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं-हे सर्वज्ञ सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय ! प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

जब भगवान् समवसरण में विराजमान होकर धर्मोपदेश करते थे तो देवगण आकाश से सौरभसम्पन्न सुन्दर सुमनों की वर्षा करते थे । जगह-जगह उन पुष्पों का ढेर हो जाता था । वे पुष्प किसी बाग-बगीचे के नहीं होते थे, किन्तु अचित्त एवं

देवता निर्मित होते थे। देववृन्द द्वारा पुष्पवृष्टि होना भगवान् के अष्ट महाप्रातिहार्यों में से दूसरा प्रातिहार्य है। यह तीर्थंकर भगवान् के प्रकृष्टतर पुण्य का फल है। भगवान् ऋषभदेव ऐसे महान् पुण्यफल से युक्त थे। उन्होंने जगत् का लौकिक एवं लोकोत्तर–दोनों प्रकार का अपूर्व कल्याण किया है। प्रभु ऋषभ-देव को हमारा बार-बार नमस्कार हो !

भाइयो ! फूल पाँच वर्ण के होते हैं—काले, नीले, पीले, लाल और श्वेत। देवता श्वेत वर्ण के पुष्पों की वर्षा करते हैं। यह पुष्प मानव-जगत् को यह संदेश देते हैं कि जैसे हम श्वेत-उज्ज्वल हैं, उसी प्रकार हे मनुष्यो ! तुम भी अपने अन्तःकरण को निर्मल धवल बनाओ। अन्तःकरण में पाप की कालिमा या कषायों का रंग मत चढ़ने दो। उज्ज्वल भावना जिस अन्तः-करण में होती है उसी में भागवत प्रकाश प्रकट होता है। इसके विपरीत जिसके चित्त में पाप की कालिमा होती है, उन्हें नरक का अधिकारी होना पड़ता है। नीले रंग के चित्त वाले तिर्यंच योनि प्राप्त करते हैं, पीत रंग के हृदय वाले मनुष्य गति पाते हैं। जिसका चित्त सर्वथा विशुद्ध हो जाता है, वह भवभ्रमण का अन्त करके मुक्ति को प्राप्त करता है। अतएव वीतराग भगवान का उपदेश है कि अपने चित्त को सदैव शुद्ध और पवित्र रखने का प्रयत्न करो। जिसके विचार पवित्र होते हैं, उसका उच्चारण भी अच्छा होता है और आचार भी उत्तम होता है। और जिसका हृदय, वाणी और चेष्टा पवित्र होती है, उसका जीवन मंगलमय बन जाता है !

भगवान् ने दान, शील तप और भावना के रूप में चार प्रकार के धर्म का उपदेश किया है। भावना का अर्थ विचारों

की पवित्रता है। आशय यह है कि जिस प्रकार अपने द्रव्य आदि का त्याग करना धर्म है, शील का पालन करना धर्म है और तपस्या करना धर्म है; उसी प्रकार अपनी भावना को निर्मल और पवित्र रखना धर्म है। इतना ही नहीं वरन् पहले के तीन प्रकार के धर्मों का प्राण भी भावना है। दान, शील और तप के साथ यदि शुद्ध भावना नहीं है और दूषित भावना से उनका सेवन किया जाता है तो वह धर्म नहीं है! किसी भी पवित्र आचरण को धर्म का रूप प्राप्त होना भावना के ही अधीन है। भावहीन कोई भी क्रिया, आत्मकल्याण का साधन नहीं बनती। एक आचार्य ने कहा है—'यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः।' अर्थात् बिना भावना के की हुई क्रियाएँ फलप्रद नहीं होती है!

तात्पर्य यह है कि भावना धर्म प्रत्येक क्रिया में व्याप्त होकर रहना चाहिए। भावना आत्मा की ही एक परिणति है इसी कारण जब वह पवित्र होती है तो आत्मा को ऊँचा उठाती है।

सूक्ष्म दृष्टि से देखोगे और वीतराग धर्म का विचार करोगे तो आपको स्पष्ट रूप से समझ में आ जायगा कि भावना का क्या महत्त्व है? मनुष्य का प्रत्येक कार्य उसकी भावना का ही प्रतिबिम्ब है। हमारे समग्र जीवन को भावना ही परिचालित करती है, भावना ही बनाती है और भावना ही बिगाड़ती है! भावना के ही प्रभाव से एक जीव नरक और निगोद की दुस्सह यातनाओं का भागी होता है और दीर्घकाल पर्यन्त इन निकृष्ट योनियों में पड़ा रहता है! भावना के ही प्रबल प्रताप से कोई कोई पुण्यशाली पुरुष स्वर्ग में इन्द्र की

पदवी पाता है और अनन्त, अव्याबाध, असीम आनन्दमय मुक्ति के सुखों का स्वामी बनता है !

भावना एक साँचा है और उसी साँचे में मनुष्य का जीवन ढलता है। स्पष्ट है कि साँचा जैसा होगा, जीवन भी वैसा ही बनेगा। इसीलिए कहा गया है कि—

यादृशी भावना यस्य सिद्धिर्भवति तादृशी।

अर्थात्—जिसकी जैसी भावना होती है, उसे उसी प्रकार की सिद्धि प्राप्त होती है—

अन्य-अन्य धर्माचरण करने के लिये कुछ द्रव्य खर्च करना पड़ता है या कष्ट उठाना पड़ता है, किन्तु अपनी भावना को शुद्ध रखने के लिए न तो कानी कौड़ी भी खर्च करनी पड़ती है ! और न कोई कष्ट उठाना पड़ता है। फिर भी आत्मा का अनन्त कल्याण हो जाता है ! ऐसी स्थिति में क्यों न अपने विचारों को पवित्र बनाने का निरन्तर प्रयत्न किया जाय ?

आश्चर्य है कि मनुष्य अपने विचारों को व्यर्थ ही दूषित बनाते हैं। दूसरों के धन-जन की हानि का विचार करने से, पराया बुरा सोचने से क्या उसकी हानि हो जायगी ? उसका बुरा-भला तो उसके कर्म के अधीन है। उसके अशुभ कर्म का उदय होगा तो उसकी हानि होगी और शुभ कर्म का उदय होगा तो तुम्हारे लाख बार बुरा सोचने पर भी उसका कुछ बिगड़ने वाला नहीं है ! किन्तु तुम व्यर्थ ही पापकर्मों का भार अपने माथे पर चढ़ा लोगे ! भगवान् ने इस प्रकार के चिन्तन को अपध्यान कहा है और अपध्यान अनर्थदण्ड में गिना गया है। अपध्यान करके मनुष्य निरर्थक ही पापकर्म का बंध करता है !

स्मरण रक्खो, तुम्हारे विचारों या भावों का मूल्य बहुत अधिक है। वे अपने आप में बहुत सूक्ष्म जान पड़ते हैं, किन्तु उनका परिणाम बहुत व्यापक होता है ! काल के सूक्ष्मतम अंश—समय मात्र-में अनन्तानन्त कर्म-परमाणुओं का आत्मा के साथ बन्ध होता है। अतएव यदि एक समय के लिए भी तुम्हारे अन्तःकरण में अशुभ भावना का उदय होता है तो समझ लो कि तुम अनन्तानन्त अशुभ कर्मों का बन्धन कर लेते हो।

मनुष्य का जीवन यथार्थ में उसकी आन्तरिक भावनाओं से ही परिचालित होता है। अथवा यों कहना चाहिए कि वह भावनाओं का ही बाह्य रूप है ! भावना से ही नरक का निर्माण होता है और भावना से ही स्वर्ग कि सृष्टि होती है !

तुम अपने लिए क्या चाहते हो ? नरक चाहते हो या स्वर्ग चाहते हो ? तुम्हारी एक मुट्ठी में नरक है और दूसरी मुट्ठी में स्वर्ग है। जिस मुट्ठी को चाहो, खोल लो ! अन्तःकरण में शुभ भावनाएँ होंगी तो स्वर्ग की मुट्ठी खुल जाएगी और अशुभ भावनाएँ होंगी तो नरक का द्वार खुल जाएगा !

अगर तुम्हारे चित्त में शुचि विचारों की वीचियाँ लहराती हैं तो निस्सन्देह तुम अत्यन्त सौभाग्यशाली हो ! तुम्हारे पावन विचार तुम्हारे अतीतकालीन पुण्य के परिचायक ही नहीं भविष्य के सौभाग्य के भी साक्षी हैं ! यही पूत विचार तुम्हारे जीवन को धन्य बनाएँगे !

जीवन को धन्य बनाने की यह कला उन्हीं भाग्य-

शालियों को प्राप्त होती है जो निर्ग्रन्थ प्रवचन को श्रवण करते हैं और उस पर निश्चल श्रद्धा रखते हैं। जिन्होंने ज्ञानियों का उपदेश नहीं सुना और प्रीति तथा प्रतीति के साथ उसे अपने अन्तर में नहीं उतारा, उन्हें जीवन को पावन और उत्कृष्ट बनाने की कला भी हस्तगत नहीं होती। कहा है—

सोच्चा जाणइ कल्लाणं, सोच्चा जाणइ पावगं।
उभयं पि जाणई सोच्चा, जं सेयं तं समायरे॥

भाइयो! सुनने से ही कल्याण का मार्ग मालूम होता है और सुनने से ही पाप का रास्ता जाना जाता है! सुनने के पश्चात् विवेकवान् व्यक्ति कल्याण का मार्ग पकड़ लेता है और अविवेकी नरक के पथ पर प्रयाण करता है!

कहा जा सकता है कि क्या कोई जान-बूझ कर नरक का मार्ग ग्रहण करता है? मगर कोई ऐसा न करे तो संसार मूर्खों से खाली ही हो जाय! चोर क्या नहीं जानता कि चोरी करना कारागार में जाने का मार्ग ग्रहण करना है। फिर भी वह उस मार्ग पर चलता ही है! वह समझ-बूझकर ज़हर खाता है। वास्तविक बात तो यह है कि उपदेश उत्तम जीवों को ही लगता है! भगवान् वीतराग देव की वाणी सुनने का अवसर पुण्यवान् पुरुषों को ही प्राप्त होता है, किन्तु उस वाणी के अनुसार प्रवृत्ति करना महान् पुण्य की बात है! जो भगवान् के उपदेश के अनुसार चलते हैं, उनका कल्याण होता है और जो उससे विरुद्ध व्यवहार करते हैं, वे अपने जीवन को व्यर्थ गँवाते हैं!

इस नश्वर और अशुचि काया की सार्थकता, भगवद्-

वाणी श्रवण करके उसके अनुकूल प्रवृत्ति करने में ही है। जो भगवान् की भक्ति में अपने मन, वचन और तन को लगा देते हैं, वे अपने जीवन को सफल बना लेते हैं।

एक बार श्रमण भगवान् ज्ञातपुत्र महावीर स्वामी राजगृह नगर में पधारे। भगवान् अनन्त गुणों के आकर थे। जिनका नाम भी भव्य जीवों को संसार-सागर के पार पहुँचा देता है साक्षात् उन भगवान् की तो बात ही क्या है! भगवान् जगत के जीवों का उद्धार करते हुए और ग्राम, नगर, पुर, पट्टन आदि में विचरते हुए राजगृह में पधारे तो सहस्रों नर-नारी प्रभु की सुधामयी वाणी श्रवण करने के लिए चल पड़े।

अपने जीवन-काल में भगवान् कई बार राजगृह पधारे थे। इसका कारण क्या है? कारण यही की वहाँ धर्मात्मा जन निवास करते थे। धर्मात्माओं की भावना-प्रकृष्ट आकांक्षा-भगवान् को भी खींच लेती है! यह तो कायदा ही है कि जहाँ मोती होते हैं, हंस अपने आप पहुँच जाते हैं! इसी प्रकार जहाँ धर्म-प्रिय जनता होती है वहाँ सन्त और सतियों का पदार्पण हो ही जाता है!

भगवान् का राजगृह में पदार्पण हुआ तो सैकड़ों मुनिराज उनके साथ में थे। मुनियों में गौतम स्वामी और सतियों में चन्दनबालाजी मुख्य थीं! भगवान् जब वहाँ पधारे तो नगर की जनता प्रभु की सेवा में उपस्थित हुए बिना कैसे रह सकती थी? जनता उमड़ी और साथ ही सूर्य देवता भी भगवान् के चरण-कमलों की उपासना के लिए आया! आप यहाँ से जिसे देखते हैं, वह सूर्य नहीं है। वह तो सूर्य के रहने का भवन है। आप उस भवन का नीचे का भाग देखते हैं और उसे ही सूर्य

समझ लेते हैं। किन्तु सूर्य देव वास्तव में उस भवन में निवास करने वाला देवता है और हजारों देवों का स्वामी है। वह अतीव तेजोधर देव है !

हाँ, तो भगवान् महावीर स्वामी जब राजगृह नगर के गुणशील चैत्य में पधारे तो सूर्य देव के मन में आया कि मैं भी प्रभु के सत्संग में चलूँ ! उसे अवधिज्ञान से ज्ञात हो गया कि प्रभु इस समय राजगृह में विराजमान हैं।

इस प्रकार निश्चय करके उसने दूसरे विमान की विक्रिया की और उसमें बैठ कर, दिव्य ऋद्धि के साथ भगवान् के चरणों में उपस्थित हुआ। उसने अपना विमान ईशान कोण में छोड़ दिया और प्रभु के पास पहुँचकर, तीन बार प्रदक्षिणा करके नमस्कार किया। तत्पश्चात् सूर्यदेव ने भगवान् से निवेदन किया-प्रभो ! आप तो सर्वज्ञ और सर्वदर्शी हैं। विश्व का कोई भी रहस्य आपसे छिपा नहीं है। किन्तु मैं इन मुनिराजों और आर्यिकाओं को दैविक ऋद्धि दिखलाना चाहता हूँ और सर्व-साधारण को यह बतलाना चाहता हूँ कि कैसे-कैसे सत्कर्म करके प्राणी इस ऋद्धि का अधिकारी बनता है !

यह कह सूर्यदेव ने बत्तीस प्रकार के नाट्य प्रदर्शित किये। बत्तीसवें नाट्य में उसने दिखलाया कि किस प्रकार प्रभु वर्द्ध-मान की आत्मा स्वर्ग से अवतरित हुई ? किस प्रकार त्रिशला माता की कुक्षि में प्रविष्ट हुई ? किस प्रकार इन्द्रों ने भगवान् का जन्ममहोत्सव मनाया ? सुमेरु पर लेजाकर अभिषेक किया ? तत्पश्चात् भगवान् का बाल्यकाल, अभिनिष्क्रमण, घोर परिषह-सहन, केवलज्ञान प्राप्त करके धर्मोपदेशदान और अन्त में किस प्रकार भगवान् की आत्मा को शरीर त्याग कर निर्वाण-लाभ

हुआ ? यह समग्र चरित उसने अत्यन्त भावुकता और श्रद्धा के साथ प्रदर्शित किया।

तदनन्तर सूर्यदेव ने त्रिलोकीनाथ को नमस्कार करके पूछा-भगवन् ! आपके असीम ज्ञानालोक में विश्व का अणु-अणु प्रतिबिम्बित हो रहा है ! अनुग्रह करके बतलाइए कि मैं भव्य हूँ या अभव्य ? परीतसंसारी हूँ या अपरीतसंसारी ? शुक्लपक्षी हूँ या कृष्णपक्षी हूँ ?

भगवान् ने फर्माया-देवानुप्रिय ! तुम भव्य हो, परीत-संसारी हो और शुक्लपक्षी हो। तुम्हारी आत्मा मुक्ति प्राप्त करेगी !

प्रभु का यह उत्तर सुनकर सूर्यदेव को अत्यन्त प्रमोद हुआ। उसने प्रभु को पुनः वन्दन-नमस्कार किया और अपने स्थान पर चला गया। सूर्य के चले जाने पर गौतम स्वामी को जिज्ञासा उत्पन्न हुई:—

गौतम पूछे यों सिरनाई, रवि कौन था पूरवभव माहीं।

उन्होंने भगवान् से प्रश्न किया-प्रभो ! रविदेव पूर्वभव में कौन था ? उसने कौन-सा आचरण करके यह दिव्य तपस्तेज पाया है ? चन्द्रमा को तो लोग द्वितीया के दिन ही देखते हैं, किन्तु सूर्य की सहस्रों नर-नारी प्रतिदिन प्रभात में आराधना करते हैं। सूर्य की किस तपस्या का यह फल है ?

भगवान् ज्ञातपुत्र ने उत्तर दिया—देवानुप्रिय गौतम ! पहले की बात है। इसी भरत क्षेत्र में सावन्ती नामक नगरी थी। वह अत्यन्त सुन्दर और रम्य थी। वहाँ के निवासी धन-

धान्य से सम्पन्न और बहुत सुखी थे। उसी नगरी में सुप्रतिष्ठित नामक एक गाथापति निवास करता था। वह राजसम्मानित, धनवान् और देश-विदेश में भी प्रतिष्ठित था। वह मर्यादा के अनुकूल प्रवृत्ति करने वाला तथा धर्मनिष्ठ था। इसी कारण सर्वत्र वह आदर का पात्र माना जाता था।

भाइयो ! अपने कुल की और समाज एवं धर्म की आदर्श मर्यादाओं के प्रति गंभीर आस्था और निष्ठा रखकर उनका अनुसरण करने वाला विवेकवान् व्यक्ति ही आदर-सन्मान का पात्र होता है। जो समीचीन मर्यादाओं को भंग करके स्वैर आचार करता है और औचित्य-अनौचित्य का विचार न करके व्यवहार करता है, जो अपने पूर्वजों की प्रतिष्ठा को कलंकित करने वाली प्रवृत्ति करता है और पुरुखाओं के उपार्जित यश को मलीन बनाता है, वह जनता की दृष्टि में सन्मान का भाजन नहीं बनता।

सुप्रतिष्ठित गाथापति था और गाथापति का पद उसी को मिलता है जो आचार-विचार और सम्पत्ति की दृष्टि से बड़ा आदमी गिना जाता है। गाँव में बड़ा आदमी कौन कहलाता है ? जो स्वयं मर्यादा में चलता है और दूसरों को चलाता है ! मर्यादाशील पुरुष सर्वत्र सन्मान का पात्र होता है। धनवान् होने पर भी जो मर्यादा के विरुद्ध व्यवहार करता है, जो धन के उन्माद में पागल होकर दूसरों को नगण्य समझता है, गरीबों पर करुणा नहीं करता बल्कि उन्हें चूसने और लूटने का प्रयत्न करता है, लोग उसके सामने 'आइए, पधारिए' भले कह दें, किन्तु पीछे तो यही कहते हैं कि पाड़ा है ! घोड़े की पूंछ बड़ी है तो किस काम की ? वह अपनी ही मक्खियाँ उड़ाने के लिए

है। वृक्ष भी अपनी छाया से, सूर्य के ताप से तप्त पथिकों को छाया देते हैं और आराम पहुंचाते हैं। वे नाना प्रकार से मनुष्य आदि का उपकार करते हैं! तो क्या बड़े आदमी का यह कर्त्तव्य नहीं कि वह छोटों को सुख-सुविधा पहुंचाने का प्रयत्न करे? बड़े का बड़प्पन छोटों पर ही निर्भर है! अतएव अपने से छोटे-हीन-प्राणियों को सुख-साता पहुँचाने में ही बड़ों को अपने बड़प्पन की सार्थकता समझनी चाहिए।

'बड़े आदमियों' पर बड़ी जिम्मेवरी होती है। प्रायः कुटुम्ब, समाज और देश में बड़ों का ही अनुकरण किया जाता है। अतएव उन्हें चाहिए कि वे ऐसा व्यवहार करें जिससे छोटों को लाभ पहुँचे, उनका जीवन आदर्श बन सके और वे अच्छे मार्ग पर चलने की प्रेरणा प्राप्त कर सकें! बड़ा आदमी वही है जो योग्तापूर्वक, विवेकबुद्धि के साथ, छोटों का पालन-पोषण करे उन्हें किसी प्रकार की असुविधा न होने दे और उनकी असुविधा को अपनी ही असुविधा समझे! बड़े आदमी ऐसे न हों जैसे रमजानी ढोल—अंदर पोलमपोल! बड़े आदमी कहलाएँ और जबान का ठिकाना ही न हो! किसी से कुछ भी वायदा कर लें किन्तु उसे पूरा करने की कोई परवाह ही नहीं!

जो लोग अपने वचन का मूल्य नहीं समझते, बातें करते समय बहुत बढ़-चढ़ कर बोलते हैं, किसी के सामने कुछ भी प्रतिज्ञा कर डालते हैं, किन्तु उसका पालन करने का प्रयत्न नहीं करते, वे अपनी प्रतिष्ठा को गँवा बैठते हैं! मर्यादाशाली मनुष्य भूल कर भी ऐसा नहीं करेगा! वह बहुत सोच-विचार कर मुख से बात निकालेगा और जो निकलेगा वह पत्थर की लकीर हो जाएगी। वह अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति के लिए जी-

जान लड़ा देगा ! सम्पूर्ण शक्तियाँ लगाकर भी अपने वचन का निर्वाह करेगा ।

अकसर देखा जाता है कि कई लोग ऐसे वायदे कर बैठते हैं कि उन्हें पूरा करना कठिन होता है ! कई तो उन्हें पूरा करने की परवाह भी नहीं करते ! किन्तु ऐसा करना अपनी प्रतिष्ठा को आप ही भंग करना है ! संभव है, कुछ लोग थोड़े समय तक उनकी बातों में आ जाएँ और उनके कथन पर विश्वास भी करले, किन्तु बाद में तो उसकी अप्रतीति होना निश्चित ही है ! शीघ्र ही लोग समझ लेते हैं कि यह व्यक्ति कहने वाला है, करने वाला नहीं ! यह ढपोरशंख है जो सिर्फ वायदा करना जानता है, उसे पूरा करना नहीं जानता ! फिर उसकी साधारण से साधारण बात पर भी कोई विश्वास नहीं करता ।

बड़प्पन का मान पाने के लिए अनिवार्य है कि आप अपने वचन का मूल्य समझें ! जो मनुष्य अपने वचन की स्वयं प्रतिष्ठा नहीं करता, वह दूसरों से प्रतिष्ठा कराने की आशा किस प्रकार कर सकता है ? जो कार्य तुम से नहीं हो सकता, उसके लिए साफ शब्दों में इन्कार कर सकते हो । कौन तुम्हारी जीभ पकड़ता है ? किन्तु ऐसा न करके, और मन ही मन यह जानते हुए भी कि यह कार्य मुझ से नहीं हो सकेगा, करने की हाँ भर लेते हो और फिर उसे करने के लिए कुछ परवाह नहीं करते तो लोग कब तक तुम्हारे वचनों पर विश्वास करेंगे ? क्यों इस प्रकार आत्मवंचना करके अपनी वाचिक प्रतिष्ठा पर पानी फेरते हो ? क्यों अपने आपको अप्रतीति का पात्र बनाते हो ? स्मरण रक्खो, तुम्हारे वचन तुम्हारी प्रतिष्ठा और अप्रतिष्ठा के सब से बड़े साधन हैं । अतएव जिस वचन की पूर्त्ति करने का

तुम में सामर्थ्य हो और जिस वचन की पूर्त्ति करने की तुम्हारी आन्तरिक अभिलाषा हो, उसी के लिए वायदा करो! बोलने से पहले अपने सामर्थ्य को भलीभाँति तोल लो! कभी किसी को यह कहने का अवसर न दो कि—इसकी बात का क्या मूल्य है। सत्पुरुष जो प्रतिज्ञा कर लेते हैं, प्राणोत्सर्ग करके भी उससे विमुख नहीं होते। वही बड़े आदमी कहलाते हैं। उन्हीं की प्रतिष्ठा स्थिर रहती है। वही विश्वासभाजन होते हैं और वही 'गाथापति' जैसे उच्च पद को प्राप्त कर सकता है!

सुप्रतिष्ठित ऐसा ही अपने वचन का धनी गाथापति था। यह कोई किस्सा-कहानी नहीं है। निरयावलिकासूत्र में उसका वर्णन किया गया है। सुप्रतिष्ठित गाथापति वास्तव में ही सुप्रतिष्ठित था और इसी कारण सब की प्रशंसा का पात्र बनकर सुख-शान्तिपूर्वक अपना जीवन व्यतीत कर रहा था।

उस समय अश्वसेनकुलदीपक प्रभु पार्श्वनाथ स्वयंबुद्ध होकर अठारह हजार मुनिराजों और सोलह हजार महासतियों के परिवार के साथ ग्राम, नगर, पुर, पाटन आदि में विचरते हुए सावंती नगरी में पधारे। तीन लोक के नाथ, सुरासुरपूजित अरिहंत प्रभु का पदार्पण हो तो स्वाभाविक ही है कि हजारों मनुष्य और देवगण उनके दर्शन के लिए उमड़ पड़ें! कोई विरला ही अभागा होगा जो प्रभु के चरणारविन्दों की उपासना करके अपने जीवन को धन्य न बनाना चाहे! तो प्रभु जब पधारे तो नगरी के नर-नारी सहस्रों की संख्या में प्रभु की सुधास्यन्दी देशना श्रवण करने के लिए उमड़े। सुप्रतिष्ठित गाथापति को पता चला तो वह भी अपने रथ पर आरुढ़ होकर गया और दूर से ही भगवान् को देखकर रथ से उतर पड़ा।

उसने गले में पड़ी हुई फूलमाला उतार दी, और दोनों हाथ जोड़ लिये। वह भगवान् के सन्निकट पहुँचा और तीन प्रदक्षिणा देकर यथाविधि वन्दन-नमस्कार करके उचित आसन पर बैठ गया। प्रभु की वाणी का प्रवाह बहने लगा—

भव्य पुरुषों! यह संसार असार है। आधियों, व्याधियों और उपाधियों से परिपूर्ण है। भाँति-भाँति की मानसिक चिन्ताएँ और शारीरिक वेदनाएँ प्राणियों को व्याकुल बनाये रखती हैं। तरह-तरह की अभिलाषाएँ मनुष्य को शान्ति का स्वप्न भी नहीं देखने देतीं। क्षण-क्षण में नवीन-नवीन उत्पन्न होने वाली यह अभिलाषाएँ मनुष्य को उसी प्रकार नाच नचाती हैं, जैसे मदारी बन्दर को नचाता है। मनुष्य इनके चक्कर में पड़ कर अपनी शान्ति और निराकुलता गँवा बैठता है और उनकी पूर्त्ति में लग जाता है। कदाचित् कोई अभिलाषा पूर्ण हो भी जाय तो भी शान्ति कहाँ? एक अभिलाषा की पूर्त्ति के साथ अनेक नूतन अभिलाषाएँ उत्पन्न होकर फिर नये सिरे से मनुष्य को परेशान करने लगती हैं। इस प्रकार अभिलाषाओं के वशीभूत हुआ मनुष्य कभी भी सुख-शान्ति प्राप्त नहीं कर पाता। असन्तुष्टि रूपी राक्षसी सदैव उसे अपने पंजों में दबाये रहती है। सांसारिक सुख के प्रभूततर साधन मनुष्य को सुखी बनाने में समर्थ नहीं हैं, यह बात अनुभव-सिद्ध है। यही नहीं, बल्कि तात्त्विक दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात हुए बिना नहीं रहता कि जीवन को सुखमय और शान्तिपूर्ण बनाने के लिए ज्यों-ज्यों बाह्य पदार्थों को अपनाया जाता है, त्यों-त्यों सुख मृगतृष्णा सिद्ध होता है और शान्ति, घोर अशान्ति के महासागर में विलीन हो जाती है। असल में परपदार्थों का संयोग ही दुःखों की अनवच्छिन्न

परम्परा को प्रसव करता है और संसारी जीव इस तथ्य को यथार्थ रूप में न समझ कर और विपर्यस्त बुद्धि होकर दुखों के मूल उन पदार्थों को ही सुख-साधन के रूप में ग्रहण करता है ! फलस्वरूप उनकी बदौलत और नवीन दुःखों की सृष्टि हो जाती है। इस प्रकार संसारी जीव के सुखप्राप्ति के लिए किये गये प्रयत्न दुःखों के जनक सिद्ध होते जाते हैं। इस प्रकार ज्यों-ज्यों औषध की जाती है, रोग बढ़ता ही चला जाता है, क्योंकि रोग का निदान और उपचार सही नहीं होता।

मुमुक्षुओ ! यदि सचमुच सुख प्राप्त करना चाहते हो तो सर्वप्रथम सम्यग्दृष्टि प्राप्त करो। सम्यग्दृष्टि प्राप्त होने से पहले किये गये समस्त प्रयत्न और सहन किये गये अनन्त काय-क्लेश भी तुम्हें सच्चा सुख नहीं दे सकते। सम्यग्दृष्टि प्राप्त होने पर आत्मा के विवेक का द्वार खुल जाता है और हेय-उपादेय का विवेक प्राप्त हो जाता है। उसी समय आत्मा जान पाता है कि वास्तविक सुख का सागर मेरी ही आत्मा में लहरा रहा है और ज्यों-ज्यों जगत् के पदार्थों से अपना संबंध हटाया जाता है, त्यों-त्यों वह सुख बढ़ता जाता है। कहा भी है:—

सन्तोषामृततृप्तानां, यत्सुखं शान्तचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम् ॥

अर्थात्—जो भाग्यशाली पुरुष सन्तोष रूपी अमृत का पान करके तृप्त हुए हैं, उन्हें जिस अपूर्व सुख की प्राप्ति होती है, वह सुख धन के लोभ में फँस कर इधर-उधर भटकने वालों को कहाँ ?

इस प्रकार की सम्यग्दृष्टि जब प्राप्त हो जाती है तो

मनुष्य परिग्रह के प्रति अनासक्त हो जाता है। वह प्रथम तो परिग्रह का त्याग करके अकिंचन अनगार ही हो जाता है। यदि ऐसा न हो तो भी रुक्ष भाव से संसार में रहता हुआ भी, जल में कमल की तरह अलिप्त रहता है। वह कुटुम्ब-परिवार में रहता है, उसका पालन-पोषण करता है, कुटुम्बियों के प्रति अपना जो कर्त्तव्य है उसका समीचीन रूप से निर्वाह भी करता है, किन्तु मोह में नहीं फँसता। संयोग और वियोग होने पर हर्ष-विषाद में पड़कर परमार्थ को नहीं भुलाता। वह भले ही व्यापार-धंधा आदि करके धनोपार्जन करता है, किन्तु धन के लिए अनीति और अप्रामाणिकता का प्रयोग नहीं करता। छल-कपट करके, झूठ बोलकर या ऐसे ही किसी दूसरे अयोग्य उपाय से धन कमाने की अपेक्षा वह निर्धन रहना ही पसंद करता है। वह अपने पड़ौसियों,सेवकों तथा अन्य सम्पर्क में आने वालों के प्रति दयामय, प्रेमपूर्ण और मधुर व्यवहार करता है। वह एक आदर्श गृहस्थ का उदाहरण बन कर रहता है।

ऐसा सम्यग्दृष्टि सदाचारी गृहस्थ वीतराग प्ररूपित धर्म को अपने आचरण से दिपाता है। उसके गृह के भीतर और बाहर के व्यवहार को देखकर ही लोग उसके धर्म की प्रशंसा करते हैं! कहते हैं–जिस धर्म के अनुयायी गृहस्थ भी ऐसे उज्ज्वल आचरण में परायण हैं, उस धर्म की महत्ता का क्या कहना है! इस प्रकार वह प्रभावना अंग का जीता-जागता नमूना बन जाता है!

इस प्रकार का गृहस्थ कभी राजदेय की चोरी नहीं करता, नकली वस्तु को असली कह कर नहीं बेचता; महारंभ की आजीविका नहीं करता। वह अल्पारंभी, अल्पपरिग्रही और

अल्प साधनों में सन्तोष करने वाला होता है ! ऐसे व्यक्ति को कभी कचहरी में पैर धरने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती।

सम्यग्दृष्टि पुरुष के लिए धर्म सर्वस्व है। वह संसार की बहुमूल्य से बहुमूल्य वस्तु के लिए भी धर्म का परित्याग नहीं करेगा। हाँ, धर्म के लिए वह सभी कुछ उत्सर्ग कर देने में पश्चात्पद नहीं होगा। धर्म के प्रति उसके अन्तःकरण में प्रगाढ़ निष्ठा होती है। वह जानता है कि धर्म ही तारने वाला है और धर्म ही रक्षा करने वाला है।

भव्य जीवो ! 'धम्मो ताणं सरणं' संसार में अचिन्त्य, असंख्य और अनन्त दुःख है। उस दुःख से त्राण करने वाला और शरण देनेवाला एकमात्र धर्म ही है। धर्म कल्पतरु के सदृश समस्त अभिलाषाओं को पूर्ण करने वाला है। उसकी शीतल छाया में प्राणी मात्र को विश्राम लेने का अधिकार है ! धर्म के परमपावन प्रांगण में प्रत्येक प्राणी को प्रवेश पाने का अधिकार है। वहाँ वर्ण, वर्ग, जाति-पाँति, धनवान्-निर्धन का कोई भेदभाव नहीं है।

भाइयो ! कई लोग विचार करते हैं कि धर्म हमारा है ! परन्तु धर्म किसी के बाप की खरीदी वस्तु नहीं है। उस पर किसी व्यक्ति का, किसी वर्ण का, किसी जाति का या किसी समूह का एकाधिपत्य नहीं है। पृथ्वी किसकी है ? आकाश किसका है ? वायु किसकी है ? मेघ पर किसका अधिकार है ? यह सब प्राणी मात्र के लिए हैं और प्राणी मात्र इनसे लाभ उठाने का अधिकारी है। विश्व के लिए निसर्ग का यह महान् से महान् वरदान है। किन्तु धर्म तो इनसे भी उत्तम वस्तु है वह भी निसर्ग का स्वभाव है। उस पर किसी का अधिकार

कैसे हो सकता है ? वास्तव में धर्म उसी का है जो उसका आचरण करता है। जो धर्म रूपी कल्पपादप की पावनी छाया में आएगा, उसी का कल्याण होगा। धर्म के लिए दूसरी उपमा जहाज की दी जा सकती है। जैसे जहाज अतल जलधि के परले पार पहुँचा देता है, चाहे कोई भी बैठने वाला क्यों न हो, उसी प्रकार धर्म संसार-सागर के पार पहुँचा देता है, चाहे कोई भी उसकी आराधना करे ! धर्म के लोकोत्तर पोत पर हरिकेशी आरूढ़ हुए तो वे भी पार हुए और अर्जुन माली जैसे सवार हुए तो वे भी छह महीने में केवली होकर मोक्ष में जा पहुंचे !

हाँ, तो भगवान् पार्श्वनाथ ने धर्म का माहात्म्य प्रकट करते हुए धर्मदेशना दी। धर्मदेशना सुनकर सुप्रतिष्ठित गाथापति को संसार की असारता का आभास होने लगा। उसने कहा—प्रभो ! हे पतित पावन् ! हे जगदानन्दन ! मैं आपके पावन चरण-शरण में आना चाहता हूँ ! ज्येष्ठ पुत्र को घर का भार सौंप कर आपके समीप मुनिधर्म अंगीकार करना चाहता हूं। भगवान् ने उत्तर में कहा—'जहासुहं देवाणुप्पिया ! मा पडिबंधं करेह।'

सुप्रतिष्ठित भगवान् को वन्दना—नमस्कार करके अपने घर पहुँचा। उसने बड़े लड़के को कह दिया कि अब यह घर तुम्हारे अधीन है। मैंने पूर्वजन्म में जो सुकृत किये थे, उनके फल स्वरूप यह ऋद्धि प्राप्त हुई है। यह ऋद्धि भोगकर मैंने अपने पूर्व-पुण्य का व्यय किया है। अब यदि धर्म का आचरण न किया तो आगे क्या गति होगी ? अतएव शेष जीवन में धर्म का आचरण करने में ही व्यतीत करूँगा और प्रभु पार्श्वनाथ के चरणों का अन्तेवासी होकर मुक्ति की साधना करूँगा।

सुप्रतिष्ठित जैसे धर्मनिष्ठ श्रावक की सन्तान भी धर्मप्रिय थी। ज्येष्ठ पुत्र ने अपने पिता के विचार सुने तो उसे कुछ खेद तो हुआ होगा, पर उसने विरोध नहीं किया। पुत्र की सार्थकता यही है कि उसके भरोसे गृहस्थी छोड़कर पिता निश्चिन्त भाव से धर्माचरण कर सकता है! जो पुत्र अपने पिता के धर्मध्यान में सहायक होता है, वही सपूत है और उसी को पाना पुत्र लाभ को पाना है! सुप्रतिष्ठित सेठ ने उसी दिन दीक्षा धारण करके उग्र तपस्या आरम्भ कर दी। बेले-बेले तेले-तेले, आदि से बढ़ते-बढ़ते महीने-महीने तक की तपस्या की और अन्त में आयु पूर्ण करके सूर्यलोक में देव हुआ!

भगवान् महावीर स्वामी के मुखारविन्द से यह वृत्तांत सुनकर गौतम स्वामी ने फिर पूछा—भगवान्! सूर्य देव सूर्य के रूप में कितने काल तक रहेगा?

भगवान् ने फर्माया—यह सूर्य देव एक पल्योपम और हजार वर्ष से कुछ अधिक समय सूर्य रूप में रहेगा। तत्पश्चात् आयु पूर्ण होने पर महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मुक्ति प्राप्त करेगा!

भाइयो! आप सामायिक-प्रतिक्रमण करते हैं, यथाशक्ति तप और त्याग का आचरण करते हैं और भगवान् की वाणी को श्रवण करते हैं। आपको यह सुअवसर मिला है। इसे अपने महान् पुण्य का फल समझें। जीवन का ऐसा महान् लाभ प्रकृष्ट पुण्योदय के बिना नहीं मिलता! किन्तु एक बात आपको ध्यान में रखनी है। आप जो भी धर्मक्रिया करें, भावना पूर्वक करें। श्रद्धा-भक्ति के साथ करें और सांसारिक सुखों की आकांक्षा न करते हुए केवल आत्मकल्याण की

भावना से करें। साथ ही, सामायिक में जो पवित्र और उच्च संस्कार आत्मा में संचित करते हैं, उन्हें स्थायी बनाकर जीवन व्यवहार में भी प्रयुक्त करें। आपके जीवन में सर्वत्र एकरूपता आनी चाहिए। समग्र जीवन उज्ज्वल भावना और पवित्र आचार से परिपूर्ण होना चाहिए अपनी भावना को निर्मल बनाएँगे तो शीघ्र ही उस उच्चतम पद को प्राप्त कर सकेंगे जहाँ आनन्द ही आनन्द है! और अव्याबाध, अक्षय और असीम आनन्द का अन्त नहीं है।

२६-१२-४८ }
पाली }

## ५

# ज्ञानी की महिमा

स्तुतिः—

गम्भीरताररवपूरितदिग्विभाग—
त्रैलोक्यलोकशुभसङ्गमभूतिदक्षः ।
सद्धर्मराजजयघोषणघोषकः सन्,
खे दुन्दुभिर्ध्वनति ते यशसः प्रवादी ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? प्रभो ! आपके गुण कहाँ तक गाये जाएँ ?

भगवान् ऋषभदेव इस भारत भूमि में, ग्राम, नगर आदि में विहार करते थे जिस किसी भी नगर में या ग्राम में आपका पदार्पण होता था तो वहाँ आकाश में अत्यन्त गंभीर, दशों दिशाओं को पूर्ण करने वाली देव-दुन्दुभि द्वारा देवतागण

घोषणा किया करते थे। देवदुन्दुभि की वह उच्चतर मधुर ध्वनि मानों धर्म के महान् राजा-प्रभु-की विजय की घोषणा करती थी और संसार के प्राणियों को चेतावनी देती थी कि धर्मतीर्थंकर ने इस क्षेत्र को पावन किया है। तुम्हें शुभ समागम का अपूर्व अवसर मिला है। देखो, इस अवसर को व्यर्थ न गँवाना ! सर्वज्ञ सर्वदर्शी, लोकपावन साक्षात् धर्म तीर्थङ्कर का समागम होना संसार में सबसे बड़ा सौभाग्य है ! इससे बढ़ कर और कोई सौभाग्य नहीं हो सकता ! इस प्रकार भगवान् के सर्वोत्कृष्ट यश को प्रकट करने वाली देवदुंदुभि की घोषणा को सुनकर न मालूम कितने भव्य प्राणियों के अन्तःकरण में आह्लाद की ऊर्मियाँ उमड़ पड़ती होंगी ! धन्य था वह काल और धन्य था वह क्षेत्र जिसमें धर्मतीर्थङ्कर साक्षात् विचरते थे ! और धन्य थे वे प्राणी जिन्हें तीर्थंकर भगवान् के दर्शन करके अपने नेत्रों को, अपने जीवन को सफल बनाने का अवसर मिला !

ऐसे हैं भगवान ऋषभदेव ! उन्हीं को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

देवदुंदुभि की बात सुन कर कोई कह सकता है कि जब देवगण आकाश में दुन्दुभिनाद करते हैं तो अयतना होती है अथवा नहीं ? अगर अयतना होती है तो भगवान् मना क्यों नहीं कर देते ? या जहाँ दुन्दुभिनाद होता है वहाँ जाते ही क्यों हैं ? और यदि अयतना नहीं होती तो आज कल साधुओं के स्वागत में ढोल आदि बाजे बजवाने में क्या हानि है ? इस सम्बन्ध में यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि तीर्थंकरों की रीति और है और साधारण साधुओं की

बात और है। तीर्थङ्कर भगवान् कल्पातीत हैं और हम लोग कल्पातीत नहीं हैं। भगवान् के लिए कोई निश्चित कल्प नहीं है। वे अपने विशिष्ट ज्ञान में देखकर जो योग्य समझते हैं, उसी के अनुसार व्यवहार करते हैं; किन्तु सामान्य साधु तीर्थङ्कर भगवान् की बराबरी नहीं कर सकता। सामान्य मुनि में न उतना ज्ञान होता है और न उतना उत्कृष्ट चारित्र ही होता है। उसे तो भगवान् की वाणी के ही अनुसार चलना होता है, अपनी बुद्धि अथवा धारणा के अनुसार नहीं।

तीर्थंकर भगवान् आध्यात्मिक उत्थान की उच्चतर भूमिका पर पहुंचे होते हैं। उनकी रग-रग में विरक्ति भरी होती है। इन्द्रियों के अनुकूल एवं मनोज्ञ विषय उनके अन्तः-करण में अणुमात्र भी अनुराग नहीं उत्पन्न कर सकते और इन्द्रियों के प्रतिकूल अमनोज्ञ विषय विषाद उत्पन्न करने में असमर्थ हैं! गृहस्थी में निवास करते हुए भी वे विषयों से अलिप्त रहते हैं। बड़े से बड़ा सन्मान और बड़े से बड़ा अप-मान उनके चित्त में किंचित् भी क्षोभ पैदा नहीं करता। वे 'सागरवरगम्भीर' होते हैं; सामान्य मुनि इस ऊँचाई को प्राप्त करने का अभिलाषी अवश्य है, और उसके लिए प्रयत्नशील भी है, किन्तु वर्त्तमान में वहाँ तक पहुंचा नहीं होता। अतएव उसे विकारजनक निमित्तों से बच-बच कर चलना पड़ता है। तीर्थंकर भगवान् काजल की कोठरी में प्रवेश करके भी बिना कालिख की रेखा लगे बाहर निकलने में समर्थ हैं, साधारण मुनि की आत्मा इतनी बलवान् नहीं होती।

साधारण मुनि अनादिकालीन काषायिक संस्कारों को निर्बल और निष्प्राण बनाने का पुनः-पुनः प्रयत्न करता हुआ

भी, निमित्त मिलने पर, कषायों के उदय के अधीन हो जाता है। अतएव कषाय के निमित्तों से बचना ही उसके लिए लाभप्रद है। किन्तु तीर्थङ्कर भगवान् की महिमा निराली है! कोई भी निमित्त, चाहे वह कितना ही प्रबल हो, उन्हें अपने अभिभूत नहीं कर सकता। इसी कारण वे कल्पातीत हैं और सामान्य मुनि कल्पस्थित है।

किसी के स्वागत में बाजा बजाना उसके अहंकार को जागृत कर सकता है। अतएव अहंकार वृत्ति के उद्रेक से बचने के लिए भी साधु अपने स्वागत में बाजे बजवाने का निषेध करते हैं।

स्वयं मेरे जीवन में कई बार ऐसे प्रसंग आये। एक बार पालनपुर में मैंने कुछ मुनियों के साथ चातुर्मास किया। पालपुर के नवाब भी व्याख्यान सुनने आए। सुनाने को मेरे पास क्या था? वही भगवान् की वाणी थी! उसी वाणी का आधार लेकर मैंने अपनी भाषा में उन्हें और दूसरे श्रोताओं को उपदेश दिया। नवाब साहब प्रसन्न हुए। उन्होंने मुझे भेंट देने के लिए दुशाले का एक जोड़ा मँगवाया। वे जैन मुनियों की आचार-प्रणाली से पूरी तरह परिचित नहीं थे। मैंने उन्हें थोड़े से शब्दों में परिचय दिया और दुशाला लेने से इंकार कर दिया।

संभवतः इससे उनका मेरे प्रति अधिक आकर्षण बढ़ा। उन्होंने अपनी रियासत की तमाम तहसीलों में आदेश भेज दिया कि जहाँ कहीं महाराज पहुँचें, उनका स्वागत किया जाय। अब तो मैं जहाँ कहीं भी पहुंचता, लोग बाजे बजाते हुए स्वागत के लिए आते! मगर मुझे स्पष्ट कहना पड़ा कि बाजे बजाओगे तो हमें लौट जाना पड़ेगा!

एक बार हम जूनिया ( अजमेर ) गये तो वहाँ के राजा भी बाजा-गाजा लेकर सामने आए। हमें कहना पड़ा कि-भाई, बाजे बंद कर दो तो हमारा आना संभव होगा, अन्यथा नहीं। बाजे उसी समय बंद कर दिये गये और तब हम उनके साथ हो गए।

तात्पर्य यह है कि तीर्थंकरों की आचारप्रणालिका दूसरी है और हमारी प्रणालिका दूसरी है। इसका अर्थ यह न समझा जाय कि दोनों के आचरण में कोई महत्त्वपूर्ण या मौलिक अन्तर है। ऐसा नहीं है। दोनों का उद्देश्य एक ही है और मार्ग भी एक है; किन्तु जैसा कि अभी कहा जा चुका है, अधिकारी के भेद से दोनों में अन्तर है।

भगवान् के पधारने पर दुन्दुभि न बजे तो ४८ कोस लम्बी और ३६ कोस चौड़ी विशालकाय नगरियों में जनता को कैसे पता लगे कि तीर्थंकर भगवान् का पदार्पण हुआ है ? और किस प्रकार ज्ञात हो कि भगवान् विहार करके अन्यत्र पधार रहे हैं ? बड़े नगरों में कौन किसे सूचना पहुँचाए और कहाँ-कहाँ और किस-किस को पहुँचाए ? भगवान् का अचानक ही गमन या आगमन हो जाय तो बहुतों के मन में पछतावा रह जाय ! अतएव देव अपने परम्परागत आचार का पालन करते हुए आकाश में दुन्दुभि बजाते हैं। वे दुन्दुभि द्वारा सूचित करते हैं कि-पधार गए हैं तीन लोक के तारणहार ! पधार गए हैं मुक्ति के मंगल-द्वार अनावृत्त करने वाले पुरुषोत्तम ! भव्य जीवो ! उन्हें नमस्कार करके अपनी अपावन काया को पावन करो, अपने नयनों को सफल कर लो ! उनकी वाणी सुनकर अपने कानों को पवित्र कर लो ! भगवद्भक्ति के विमल-शुचि

प्रवाह में अपनी आत्मा की मलीनता धो लो ! यह अपूर्व-एक-दम अनूठा पुण्य-प्रसंग है जगत् के जीवो ! जो तुम्हें अनन्त पुण्य के परिपाक से प्राप्त हुआ है !

भाइयो ! धर्मकृत्य करने के लिए दूसरों को प्रेरणा करना साथ में लाना, उनका उत्साह बढ़ाना और उन्हें यथाशक्ति सुविधा कर देना भी महान् लाभ का कारण है । प्रेरणा करके धर्म श्रवण करने के लिए ले जाने वाला पुण्य का उपार्जन करता है । एक व्यक्ति पंचोले-पंचोले की तपस्या करता है और दूसरा किसी को धर्म के मार्ग पर लगाता है तो इस व्यक्ति के बराबर तपस्या करने वाला नहीं है । यह बात पूज्य श्रीलालजी महाराज ने भी कही थी । सारांश यह कि धर्म की दलाली करने में बहुत बड़ा लाभ होता है ।

चित्त प्रधान का आख्यान जैन साहित्य में अमर है । उसने केशी स्वामी को आमंत्रित किया और प्रदेशी जैसे निर्दय-हृदय, घोर हिंसक एवं नास्तिक राजा को बड़े कौशल के साथ मुनिराज के पास पहुँचाया । नतीजा यह हुआ कि अधर्मी राजा धर्मी बन गया । प्रजा को निरन्तर कष्ट देने वाला प्रजावत्सल हो गया ! वह दयालु और दानी बन गया !

कई लोग ऐसे आलसी होते हैं कि व्याख्यान में आते समय अपने पड़ौसी को भी नहीं कह सकते कि चलो भाई धर्मकथा सुन आएँ ! वे सोचते हैं कि क्या मालूम मेरे कहने पर वह चलेगा या नहीं ? पर ऐसा सोचने का कोई कारण नहीं है तुम किसी से धर्मकथा सुनने के लिए चलने को कहते हो और वह नहीं चलता तो भी तुम्हें तो एकान्त लाभ ही है ! तुम्हारी सद्भावना का फल तुम्हें मिल ही जाएगा ।

भाइयो ! सुनो ! दलाली करना साधारण काम नहीं है। धर्मदलाली की थी श्रीकृष्णजी ने ! उनकी दलाली के परिणामस्वरूप थावच्चा कुमार के साथ एक हजार आदमी दीक्षित हो गए। अतएव जितना संभव हो, धर्म की दलाली करो। न कर सको तो कम से कम दलाली करने वालों के बाधक तो मत बनो !

मान लीजिए, एक आदमी प्रतिदिन एक पाव मांस खाता है। आपने प्रेरणा करके उसे किसी मुनि-महात्मा के पास पहुँचा दिया और महात्मा का उपदेश सुनकर उसने मांस खाना त्याग दिया। तो महीने में तीस पाव मांस की बचत होने से करीब एक बकरे के प्राण बचे ! इस प्रकार वर्ष में बारह बकरे बच जाएँगे ! संभव है कि उसकी सन्तान और प्रसन्तान भी मांस खाना छोड़ दे तो और भी बड़ी हिंसा बच जाएगी। इस प्रकार दलाली करने से बहुत बड़ा लाभ होता है।

भाइयो ! दलाली कौन करेगा ? जिसकी खुद की श्रद्धा अच्छी होगी वही धर्म की दलाली करेगा। जिसे धर्म पर अचल विश्वास ही नहीं है, उससे धर्म-दलाली की क्या आशा की जा सकती है ? जहाँ विश्वास है वहीं धर्म है और वहीं कल्याण का स्थान है। जहाँ सम्यक्श्रद्धान है वहाँ सम्यग्ज्ञान है। और जहाँ सम्यग्ज्ञान होगा वहीं त्याग आएगा। त्याग होगा तो तपस्या होगी और तपस्या होगी तो मुक्ति मिलेगी। मुक्ति मिलेगी तो निर्वाण की प्राप्ति होगी। अतएव धर्म के प्रति विश्वास लाकर दलाली करो।

सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य भारत का एक प्रसिद्ध वीर सम्राट् हुआ है। वह जैनधर्म का पालन करता था। उसने बड़े-बड़े

धर्मोपदेशक देश-देशान्तर में भेजे थे और धर्म की महती सेवा की थी।

भाइयो! आप लोग महाजन हैं और यह धर्म आपके हाथ लग गया है। किन्तु आपकी आदत है कि आप जो कमाते हो, उसे तिजोरी में बन्द कर देते हो या ज़मीन में गाड़ देते हो। इसी महाजन-सुलभ स्वभाव से आपने धर्म को भी तिजोरी में बंद कर रक्खा है! आप किसको दिखलाना भी पसन्द नहीं करते। दूर नहीं जाना चाहते तो अपने नौकर को ही धर्म की बात क्यों नहीं बतलाते और उसे सही रास्ते पर क्यों नहीं लाते?

तुम दस अन्यधर्मियों के साथ जा रहे होंगे और सामने से कोई मुनिराज आते दिखाई देंगे तो तुम्हें शर्म आ जाएगी। सोचोगे कि दूसरे क्या कहेंगे? और इसी विचार में छतरी में मुँह छिपाकर निकल जाओगे और उन्हें वन्दना नहीं करोगे! क्यों भाई, आखिर किस बात से तुम शर्माते हो? अरे कलदार खरा है तो झनझनाहट करेगा ही। तुम्हें तो गौरव समझना चाहिए कि तुम ऐसे गुरु के शिष्य हो जो उच्च आचार-विचार में, संसार में अपनी सानी नहीं रखते! प्राणी मात्र पर जिनका असीम करुणा का स्रोत प्रवाहित होता है, जो लेशमात्र भी असत्य, अप्रिय और कटु शब्दों का प्रयोग नहीं करते, जिन्होंने स्वेच्छापूर्वक अकिंचनता का महाव्रत अंगीकार किया है, जो पूर्ण ब्रह्मचारी हैं और तृण मात्र भी अदत्त को ग्रहण नहीं करते! जो गाँव-गाँव नंगे पैरों और उघाड़े सिर घूम-घूम कर धर्म की अलख जगाते हैं, ऐसे त्यागी, तपस्वी और संयमशील गुरु खोजने पर भी अन्यत्र नहीं मिलेंगे! फिर संकोच किस बात का? लज्जा कैसी? झिझक क्यों? ऐसे लोभ-लालच

से विहीन गुरु को पाकर तुम्हें मानना चाहिए कि हमने परम सौभाग्य पाया है। ऐसे गुरु ही सच्चे गुरु कहलाते हैं। सद्-गुरु के विषय में कहा है:—

नाणदंसणसंपन्नं, संजमे य तवे रयं।

सद्गुरु वह हैं जो समीचीन ज्ञान और दर्शन से सम्पन्न हैं तथा जो अपनी समस्त इन्द्रियों को नियंत्रण में रखते हैं, मन पर पूरा अंकुश रखते हैं और तपस्या में निरत होते हैं।

सद्गुरु का पहला लक्षण ज्ञानसम्पन्न होना अर्थात् ज्ञानी होना है। ज्ञानी और विद्वान् में अन्तर है। बाह्य पदार्थों की सूक्ष्म और गंभीर जानकारी प्राप्त कर लेने वाला, किन्तु आत्म-ज्ञान से विमुख व्यक्ति विद्वान् कहला सकता है। किन्तु ज्ञानी वही कहलाएगा जो सम्यग्दृष्टि होगा और जिसने आत्मा के निगूढ़ रहस्यों का पता पा लिया होगा। बड़े बड़े वैज्ञानिक, जो एटम बम बनाने में कुशल हैं, भौतिक पदार्थों का अधिक से अधिक ज्ञान रखते हैं, लेकिन वे आत्मज्ञान से सर्वथा शून्य हैं तो उन्हें ज्ञानी का पद प्राप्त नहीं हो सकता। आत्मा के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा के साथ जिन्होंने ज्ञान प्राप्त किया हो और जो कल्याण-अकल्याण के विवेक से विभूषित हों, वही वास्तव में ज्ञानी कहलाते हैं। ऐसे ज्ञानी पुरुष ही सम्यक्-चारित्र के पात्र होते हैं और सम्यक्चारित्रवान् ही मोक्ष का अधिकारी होता है जो मोक्ष प्राप्त करता है वही निर्वाण पद प्राप्त करता है। निर्वाणपद की प्राप्ति हो जाने के पश्चात् जन्म-मरण का अनादि-कालीन चक्र बंद हो जाता है। अजर-अमर स्थिति प्राप्त होती है।

इस प्रकार ज्ञानी और अज्ञानी में जो महान् अन्तर है, वह बाह्य पदार्थों की अभिज्ञता और अनभिज्ञता पर अवलम्बित नहीं; अपितु आत्मज्ञान होने और न होने पर निर्भर है। संसार में सर्वत्र ज्ञानी और अज्ञानी जीव मौजूद हैं—नरकयोनि में भी हैं, तिर्यञ्चगति में भी हैं और मनुष्य एवं देवपर्याय में भी हैं। नरक में जो सम्यग्दृष्टि एवं ज्ञानी जीव हैं उन्हें भी दुःख सहन करने पड़ते हैं और अज्ञानियों को भी सहन करने पड़ते हैं। किन्तु दोनों की मानसिक स्थिति में बड़ा अन्तर रहता है। अन्य योनियों के संबंध में भी यही बात कही जा सकती है। कोई भी योनि क्यों न हो, उसमें रहे हुए ज्ञानी को जब दुःख भोगने पड़ते हैं तो वह अपने सम्यग्ज्ञान के बल से उस दुःख के कार्य कारण-भाव को ठीक तरह समझ लेता है। वह दुःख के तात्कालिक निमित्त बने हुए किसी दूसरे व्यक्ति को अपने दुःख का उत्तर-दाता नहीं समझता वरन् अपने आपको ही उत्तरदायी समझता है। वह सोचता है कि दुःख का अंकुर जब मेरी आत्मा में उत्पन्न हुआ है तो दुःख का बीज भी-कारण भी-मेरी ही आत्मा में होना चाहिए। जहाँ बीज होता है वहीं अंकुर उत्पन्न होता है। बीज दूसरी जगह हो और अंकुर दूसरी जगह हो, ऐसा कदापि संभव नहीं। इस प्रकार अपने दुःखों का कारण मैं स्वयं ही हूँ, कोई दूसरा नहीं हो सकता। मैं ने पहले पाप कर्म का बंध किया है, उसी के फलस्वरूप मुझे दुःखों की प्राप्ति हुई है। मैं अपने ही कर्मों का फल भोग रहा हूँ। इस फलभोग में अगर कोई दूसरा व्यक्ति निमित्त बनता है तो उस पर मेरा क्रोध या द्वेष करना निरर्थक है। वह तो मेरे ही अशुभ कर्मों से प्रेरित होकर निमित्त बना है!

दुःख वास्तव में क्या चीज़ है? क्या सचमुच दुःख ऐसी

चीज है जिससे बचने के लिए प्रयत्न करना चाहिए तो बचने का सही उपाय क्या है ? अज्ञानी पुरुष पाप-कर्म से तो बचने का प्रयत्न नहीं करता किन्तु पापकर्म के फल से-दुःख से-बचने का प्रयत्न करता है। किन्तु ज्ञानी सोचता है कि विषफलों से बचने का ठीक उपाय यही है कि विषवृक्ष को जड़ से उखाड़ दिया जाय ! न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी । जिस वृक्ष से दुःखों के विषफल उत्पन्न होते हैं, उस वृक्ष को ही उखाड़ देने में बुद्धिमत्ता है। अर्थात् पापकर्म से उत्पन्न होने वाले दुःखों को नष्ट करने के लिए पापकर्मों से दूर रहना ही उचित है।

जो पापकर्मों से बचता नहीं किन्तु दुःख से बचना चाहता है, उसका प्रयास बालचेष्टा के अतिरिक्त और कोई मूल्य नहीं रखता। वह सफलमनोरथ नहीं हो सकता। क्योंकि जब तक दुःखों का कारण विद्यमान रहेगा तब तक दुःखों का प्रतीकार होना संभव नहीं है। जैसा कि अभी कहा जा चुका है, दुःखों का कारण अशुभकर्म है; अतएव दुःखों से बचने का उपाय भी अशुभकर्मों से बचना है।

ज्ञानी पुरुष की विचारणा का यह एक उदाहरण है। इस प्रकार की विचारणा का फल अत्यन्त लाभदायक होता है। इसमें सचाई तो है ही, साथ ही शान्ति भी है, उपशम भी है। इस प्रकार की विचारणा से ज्ञानी घोर से घोर दुःख आ पड़ने के समय भी शान्त,सहनशील और अनुद्विग्न रहता है और इस प्रकार अपने दुःखों को हल्का बना लेता है। दूसरे, दुःख के निमित्त बने हुए व्यक्तियों पर द्वेष भाव न धारण करने के कारण उसका अन्तःकरण कलुषित नहीं होता। वह आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान से बचा रहता है और इसके परिणामस्वरूप कर्मों

की निर्जरा अधिक और बंध कम करता है। अतएव उसकी आत्मा हल्की होती चली जाती है और उसका भविष्य उज्ज्वल से उज्ज्वलतर बनता जाता है। सारांश यह है कि ज्ञानी पुरुष विकट से विकट संकटपूर्ण प्रसंग को भी अपनी आत्मा के लिए हितकर बना सकता है।

अज्ञानी दुःख के प्रसंग पर क्या करता है? वह ज्ञानी पुरुष की भाँति कार्यकारणभाव विचार नहीं करता और अपने दुःख के लिए अपने आपको उत्तरदायी न ठहरा कर दूसरों को उत्तरदायी समझता है। वह सोचता है-अमुक व्यक्ति ने मुझे अमुक हानि पहुँचा दी; फलां ने मेरा यह अनिष्ट कर दिया और उसने मेरा यह काम बिगाड़ दिया! वह बाह्य निमित्तों को ही उपादान कारण समझ लेता है और इस प्रकार दूसरों पर द्वेष-भाव धारण करता है। उसकी कषाय से रंगी हुई आत्मा पर और गहरा कषाय का रंग चढ़ता है और परोक्ष रूप में वह अपने दुःखों में वृद्धि करता जाता है। इसी आशय को लक्ष्य में रखते हुए श्रीमद् आचारांगसूत्र में कहा है:—

जे आसवा ते परिसवा,
जे परिसवा ते आसवा।

अर्थात्—ज्ञानी पुरुष आस्रव के कारणों को भी निर्जरा के कारणों के रूप में परिणत कर लेता है; और अज्ञानी निर्जरा के कारणों को भी आस्रव के कारण बना लेता है।

जरा गंभीर भाव से विचार करो कि ज्ञानी और अज्ञानी की स्थिति में कितना महान् अन्तर है। दोनों एक-सी परिस्थिति में हैं। दोनों पर एक सरीखा दुःख आया है। परन्तु ज्ञानी ने

अपने सुविमल विवेक के द्वारा दुःख को भी आत्मकल्याण का साधन बना लिया, उसके द्वारा निर्जरा कर ली, अपना भविष्य सुधार लिया और माथे पर चढ़े हुए भार को उतार दिया ! इसके विपरीत अज्ञानी ने उसी दुःख से, अपने अविवेक के कारण अपनी आत्मा को अधिक कलुषित कर लिया, कर्मों के ऋण को अधिक बढ़ा लिया, आत्मा को भारी बना लिया और भविष्य के लिए अधिक दुःखों की सृष्टि कर ली !

किन्तु ज्ञानी और अज्ञानी में इतना ही अन्तर नहीं है। संसार को सुख और दुःख एक प्रकार की हृदय की संवेदनाएँ हैं। हम प्रत्यक्ष देखते हैं कि एक सरीखी घटना दो समान रूप से सम्बद्ध व्यक्तियों पर विभिन्न प्रकार का प्रभाव डालती है। एक ही पिता के दो पुत्रों पर पिता की मृत्यु का प्रभाव और तज्जनित वेदना में एकान्ततः समानता नहीं होती। एक बहुत अधिक शोकग्रस्त होता है तो दूसरा कम। इससे यह बात सहज ही समझी जा सकती है कि मनुष्य के सुख-दुःख का आधार बाह्य घटना उतना नहीं, जितना हृदय की अनुभूतियाँ हैं। ज्ञानी की अनुभूतियाँ ऐसी विवेकमयी होती हैं कि बाह्य घटनाएँ उसके चित्त को उतना प्रभावित नहीं करती; जितनी कि अज्ञानी को करती हैं। अतएव दुःख के कारण उपस्थित होने पर ज्ञानी उतना दुखित नहीं होता, जितना कि अज्ञानी होता है। इस प्रकार ज्ञानी का ज्ञान उसे दुःखों की अनुभूति से बचाने के लिए कवच का काम करता है, जब कि अज्ञानी का अज्ञान उसके लिए विष-बुझे बाण का काम करता है ! अज्ञानी और ज्ञानी का यह अन्तर भी साधारण नहीं है !

नरक योनि में ज्ञानी भी होते हैं और अज्ञानी भी होते हैं। दोनों को दुःख के बाह्य कारण एक सरीखे प्राप्त होते हैं,

परन्तु ज्ञानी सोचता है कि मैंने पापकर्मों का बन्ध किया था सो भोग रहा हूं। अज्ञानी विचार करता है कि मेरा वश चले तो मैं यमदूतों को मार डालूँ! ज्ञानी सोचता है, हँस-हँस कर कर्ज लिया था तो खुश हो-होकर चुकाना चाहिए।

गृहस्थावस्था में मेरी माता जब बीमार हो जाती तो कहा करती थी—कर्मों! ले लो। खुशी से बदला ले लो! मुझे तो कभी न कभी चुकाना ही है! अभी सही!

तात्पर्य यह है कि ज्ञानी पुरुष राग-द्वेष नहीं करता, जब कि अज्ञानी पत्थर की ठोकर लगने पर पत्थर को ही उखाड़ फैंकता है। कई लोग लिखते-लिखते, गुस्से में आकर कलम को ही तोड़ बैठते हैं! यह सब अज्ञान का ही फल है!

एक साधु कहीं जा रहे थे। उन्हें देख कर एक आदमी बोला—देखो, पलीत, गलीज, गुण्डा और बदमाश जा रहा है! मुफ्तखोर कहीं का!

यह शब्द साधु के कानों में पड़ गये। उनके चेहरे पर तनिक भी रोष या आवेश न चमका। सहज स्मित के साथ उन्होंने कहा—तुम ठीक कहते हो।

इतना कहकर साधु बिना रुके आगे चल दिये। गालियाँ देने वाला चकित और परेशान हुआ। साधु के प्रति उसका कुतूहल बढ़ गया। वह भी उनके पीछे-पीछे हो लिया। कुछ आगे चलने पर साधु के भक्त मिले। साधु पर दृष्टि पड़ते ही उनके हृदय हर्ष से नाच उठे। वे बोले—'पधारिये, तारण-तरण की जहाज ने घणी खम्मा!' साधुजी ने कहा—तुम ठीक कहते हो!

यह सब देख-सुन कर उस पीछा करने वाले ने सोचा- अद्भुत जान पड़ते हैं यह साधु ! मैंने जलते अंगारे फैंके तो कहते हैं—ठीक है और इन लोगों ने श्रद्धा के सुमन बरसाए तो भी कहते हैं—ठीक है ! साधुजी एक मकान में ठहर गये। जब भक्त चले गये तो उस व्यक्ति ने पूछा—महाराज ! आपने दोनों का कहना ठीक कैसे बतलाया ?

साधु उसी शान्ति और स्मितमुद्रा से बोले—ठीक था, अतः ठीक बतलाया। उस व्यक्ति ने कहा—मगर दोनों का कथन ठीक कैसे हो सकता है ?

साधुजी बोले—देखो, तुमने मुझे पलीत, गलीज आदि कहा, सो ठीक ही कहा है, क्योंकि मेरी आत्मा वास्तव में ऐसी ही है। इसमें बड़ी मलीनता भरी है और मैं दूसरों के लिये बने भोजन पर निर्वाह करता हूँ। अतएव तुम्हारा कहना मिथ्या नहीं था। मेरी आत्मा निर्मल होती तो क्यों जन्म-मरण के चक्र में पड़ी होती ?

'तो फिर आपके भक्तों के कथन में क्या सचाई है ?'

'यह भक्त लोग तरण-तारण की जहाज कहते हैं सो मुझे नहीं, मेरे संयम को कहते हैं। मैं साधुपन छोड़कर तुम्हारी तरह गृहस्थ का वेष धारण कर लूँ तो ये लोग मुझे वैसा नहीं कहेंगे। इससे स्पष्ट है कि भक्त लोग संयम की प्रशंसा करते हैं, व्यक्ति की नहीं। मैं उनके द्वारा की हुई स्तुति और प्रशंसा को अपनी नहीं, अपने संयम की स्तुति और प्रशंसा समझता हूँ।

भाइयो ! ज्ञानी और अज्ञानी की मनोवृत्ति में इतना विभेद होता है। अतएव ज्ञानी वही होता है जिसकी दृष्टि निर्मल

बन गई हो अर्थात् जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त हो गया हो! सम्यग्दर्शन के बिना ऐसा परमार्थभूत ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता।

कई लोग दूसरों के दोष-दर्शन में ही अपने ज्ञान की महत्ता समझते हैं। वे बड़े चाव से दूसरों की बुराइयाँ प्रकट करते हैं! परन्तु परछिद्रान्वेषी होना ज्ञानी का लक्षण नहीं है। ज्ञानी पर के गुणों को और अपने दोषों को देखता है। वह अपने मुख से अपनी प्रशंसा और दूसरों की निंदा नहीं करता।

अज्ञानी बड़ी चतुराई से कहते हैं कि तुम्हें रत्न और कंकर की पहचान नहीं है! तुम्हारे लिए तो गुड़ और गोबर समान हैं। इस प्रकार वे लोग तरकीब के साथ लोगों को भ्रम में डाल देते हैं। दरअसल ऐसे व्यक्ति समझदार नहीं हैं। जो अपना कल्याण करे और दूसरे की निन्दा न करे वही ज्ञानी है।

जब सोमल ने रख दिये धधकते हुए अंगार माथे पर और महान् वेदना होने लगी तो गजसुकुमार मुनि ने क्या उस ब्राह्मण को बुरा-भला कहा था? क्या उसे अपना शत्रु समझा था? नहीं, उन्होंने सोचा—मैंने जो दुष्कर्म किये हैं, उनका फल भोग रहा हूँ। सोमल शत्रु नहीं, सहायक है। वह मेरे उद्देश्य की सिद्धि में सहायता पहुँचा रहा है। गजसुकुमार महामुनि ऐसा न सोच कर यदि सोमल को शत्रु समझते तो क्या इतनी जल्दी मुक्ति पा लेते? दूसरों को दोषी समझने वाला तो 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं' के महारोग का शिकार होता है।

भाइयो! खाता बढ़ाने से बढ़ता है और घटाने से घटता है। जरा सी दुर्भावना आई कि खाता बढ़ गया! इस बात को

निरन्तर ध्यान में रखते हुए हृदय को निर्मल रखने का प्रयत्न करो। तत्त्व-परमार्थ की दृष्टि से विचार करो। धर्मशास्त्र के सिद्धान्तों को जीवन-व्यवहार में उतारो। यह सर्वज्ञों के उपदेश सिर्फ सुनने के लिए नहीं, सुन कर व्यवहार में लाने के लिए हैं।

अयवन्ताकुमार मुनि ने सचित्त पानी में पात्री तिराई और बोले—

नाव तिरे म्हारी नाव तिरे !

कहो साहब, उनको छह कायों का नाम याद था या नहीं ? जलकाय में जीव है, यह ज्ञात था या नहीं ? अगर ज्ञात होता तो कच्चे पानी में पात्र क्यों तिराते ? तुम्हें थोड़ा भी ज्ञान है तो तुम कहते हो कि मैंने सामायिक ग्रहण की है, कच्चे पानी का आरम्भ-समारम्भ नहीं करूँगा ! मगर अयवन्ता मुनि तो कच्चे पानी में नाव तिराने लगे !

यह दृश्य देख कर दूसरे छद्मस्थ साधुओं के मन में आया कि यह समकिती नहीं है ! उन्होंने भगवान महावीर के पास आकर अयवन्ता मुनि की शिकायत की तो भगवान् ने कहा—अयवन्ता मुनि की निन्दा मत करो, उनकी वैयावच्च करो !

आजकल के चेले होते तो भगवान् को भी पक्षपाती होने का फतवा देने से न चूकते ! कहते—भगवान् तो बच्चे का पक्ष लेते हैं ! किन्तु वे शिष्य ऐसे नहीं थे। भगवान् के प्रति उनकी अटल-अचल श्रद्धा थी। वे जानते थे कि प्रभु वीतराग हैं, किसी का पक्षपात नहीं करते, किसी पर अनुराग नहीं

करते, वे सत्य पथ ही प्रदर्शित करते हैं। भगवान् के कथन में कुछ न कुछ मर्म अवश्य होना चाहिए ! हम सर्वज्ञ की सब बातों को भलीभांति नहीं समझ सकते !

आखिर भगवान् ने स्पष्ट करते हुए उन साधुओं से कहा—अयवंता मुनि बड़े भाग्यशाली हैं। उन्होंने कहा है—

नाव तिरे म्हारी नाव तिरे।

हे श्रमणो ! उनका कथन सत्य है। उनकी नाव इसी भव में तिरने वाली है। वे चरमशरीरी जीव हैं !

भाइयों, ऐसी-ऐसी घटनाओं का उल्लेख शास्त्र में किस प्रयोजन से किया गया है ? इनसे आपको क्या तथ्य ग्रहण करना है ? आप किसी का कोई छोटा-सा छिद्र देखते हैं तो जगह-जगह उसकी बुराई करते हैं। उसे मिथ्यात्वी की पदवी देने में संकोच नहीं करते ! वास्तविकता को समझने का प्रयास नहीं करते ! किन्तु इस घटना का वर्णन करके शास्त्रकार हमें समझा रहे हैं कि अवगुण देखने हैं तो अपने ही देखो, दूसरों के नहीं। दूसरों के अवगुण देखने जाओगे तो अपनी आत्मा को व्यर्थ ही कलुषित करोगे। ऐसा करके कुछ भी लाभ प्राप्त नहीं कर सकोगे; अपनी आत्मा को गिरा लोगे ! इस प्रकार ज्ञानी वह है जो अपने दोषों को जानता है और अज्ञानी वह है जो दूसरों के दोषों को देखने को उत्कंठित रहता है, पर अपने दोषों को नहीं जानता !

अज्ञानी लोग स्वयं डूबते हैं और दूसरों को डुबाते हैं। बाहर से भले वे कितने ही पवित्र आचार-विचार से सम्पन्न

दिखाई देते हों, किन्तु उनके भीतर गन्दगी भरी होती है। बाह्य क्रियाएँ उनकी आन्तरिक शुद्धि नहीं कर सकतीं।

बोतल में मदिरा भरी है और ऊपर से डाट लगा है। उसे लेकर कोई हजार बार गंगाजी में स्नान कराए तो क्या मदिरा पवित्र हो जाएगी? क्या वह गंगाजल से पूत मदिरा पेय हो गई? इसी प्रकार जिसका अन्तरंग पाप और कषाय से भरा हुआ है, वह ऊपर से कितना ही साफ-सुथरा रहे, बगुले की तरह फक्-सफेद दिखाई दे, किन्तु वास्तव में तो रहेगा अपावन ही! फिर भी जो अपने को पवित्र मानता है और दूसरों को अपवित्र समझता है, उसे अज्ञानी ही समझना चाहिए।

अज्ञानी जीव अपनी सांसारिक वासनाओं की पूर्ति करने के लिए धर्म का परित्याग कर देने में भी संकोच नहीं करता। वह सत्य धर्म को छोड़कर विधर्मी भी बन जाता है। सच पूछो तो उसका कोई धर्म ही नहीं होता। वह धर्म का गौरव नहीं समझता, जाति का गौरव नहीं महसूस करता! वह घृणित से घृणित कृत्य कर सकता है। शराब भी पीने लगता है और अंडे भी चूसने लगता है। अज्ञान से कौन सा दोष और पाप नहीं उत्पन्न हो सकता? एक कवि कहते हैं—

विवेकभ्रष्टानां भवति विनिपातः शतमुखः।

विवेक तो उत्तुंग पर्वत का शिखर है। एक बार शिखर से लुढ़कने के बाद सँभलना कठिन होता है। अकसर लुढ़कना आरंभ होने पर मनुष्य लुढ़कता ही चला जाता है। किन्तु संभव है, शिखर से लुढ़कने वाला कोई निमित्त मिलने पर ठहर भी जाय, बीच में रुक भी जाय, मगर विवेक के शिखर से गिरने

वाला तो गिरता ही चला जाता है ! वह बीच में रुकता नहीं ! अज्ञानी का अविश्रान्त गति से पतन होता चला जाता है !

कोई अज्ञानी बड़ा आदमी हो गया है। वैसे तो पैसे से कोई बड़ा आदमी नहीं होता, किन्तु व्यवहार में पैसे वाला बड़ा आदमी कहलाता है। तो उसे बड़ा आदमी समझ कर कोई किसी सार्वजनिक संस्था के लिए चंदा माँगने आया। तब वह अज्ञानी अपना सौभाग्य नहीं समझता, बल्कि मन ही मन कुढ़ता है ! चंदा माँगने वाले से कहता है-क्यों, बड़ी गर्दन काटने के लिए होती है ? जब देखो तब चंदा माँगने को आ पहुँचते हो ! क्या मैंने तुम्हारे ही लिए धन कमाया है ?

अरे भाई, तुझे बड़ा आदमी समझा है तब तो तेरे पास आए है। मँगता समझा होता तो क्यों तेरे द्वार पर आते ? घर बैठे गंगा आ गई है। हाथ धोना है तो धो ले ! जो अवसर मिला है उससे लाभ उठा ले ! जो साधन-सामग्री प्राप्त हुई है, उसका सदुपयोग कर ले ! बार-बार न तो मनुष्य-जन्म मिलता है और न सचमुच सामग्री ही मिलती है !

हे मानव, बिजली की चमक में मोती पिरोना है तो पिरो ले ! पल भर ही यह चमक रहने वाली है। समय चूका कि चूका ! यह मानव-जीवन ऊँचे चढ़ने के लिए मिला है या नीचे गिरने के लिए ? डाक्टरी हाथ आई तो गरीबों से फीस नहीं लेगा तो क्या बिगड़ जायगा ? वकील बना है तो क्या दूसरों को फँसाने के लिए बना है ? तेरे वकील बनने से जाति और देश को क्या लाभ पहुँचा है ? भाई, दैवयोग से तुझे जो कोई विशेष साधन-सामग्री मिली है, उससे कुछ भला काम कर ले। कहावत है—'कर लिया सो काम, भज लिया सो राम' समय

चूकने पर पश्चाताप करने से भी कुछ हाथ नहीं आता। 'अण चूका वीसा सौ।' यह वीस और सौ क्या बला है? एक दृष्टांत द्वारा समझिए।

एक ठाकुर के कुँवर साहब आणा लाने को तैयार हुए। तब ठाकुर साहब ने कहा-दो-चार सरदार साथ में लेते जाओ। बीच में जंगल पड़ता है! किन्तु नवयुवक कुँवर ने कहा-आदमी तो औरतों के पीछे रहते हैं। मुझे क्या आवश्यकता है?

यह कह कर वह हजारों के आभूषण पहन कर और घोड़े पर सवार होकर चल दिया। रास्ते में घना जंगल था। वहाँ उसे पचास चोर मिल गए। नौजवान अकेला था। इसे देखकर चोरों ने 'राम-राम' किया और पूछा--कुंवर साहब, किधर पधार रहे हैं?

नौजवान--आणा लेने जा रहा हूँ।

चोर--साथ में जाब्ता नहीं है? लौट कर आओगे तब भी क्या अकेले आओगे?

नौजवान--मैं स्वयं जाब्ता हूँ। क्षत्रिय का पुत्र हूँ। दूसरों की रक्षा करना मेरा काम है। मैं दूसरों की रक्षा का मुँहताज़ क्यों बनूँ?

चोरों ने सोचा--अभी यह अकेला है। लौटते समय औरत को भी साथ लाएगा। उसके शरीर पर भी जेवर होंगे। अपना काम करने के लिए वही समय उपयुक्त होगा। अभी इसे जाने दें!

इधर नौजवान का घमंड दुगना बढ़ गया। उसने सोचा-इन चोरों में मेरा मुकाबिला करने की ताकत कहाँ?

कुँवर ससुराल पहुँचा और कुछ दिन तक ठहर कर जब पत्नी समेत वापिस लौटने लगा तो उसके श्वसुर ने कहा-कुंवरजी, आप अकेले पधारे हैं; किन्तु अब कुछ सिपाहियों को साथ लेते जाइए। सुनसान जंगल में इस प्रकार अकेले जाना उचित नहीं है!

नौजवान बोला--मैं अपनी ही भुजाओं के बल पर आया हूँ और अपनी ही भुजाओं के बल पर जाऊँगा। आते समय मार्ग में पचास चोर मिले थे। मगर मेरे सामने वे कुछ न कर सके! चुपचाप खिसक गए।

श्वसुर ने समझाया—कोई आदमी कितना ही वीर-बहादुर क्यों न हो, आखिर तो दो ही हाथ वाला है! बहादुर आदमी के भी हजार हाथ नहीं होते। दो हाथों से जितना काम किया जा सकता है, उतना ही तो कोई कर सकता है। ऐसी स्थिति में अगर आप कुछ आदमियों को साथ लेते जाएँ तो हानि भी क्या है? साथ जाएँगे और आपको पहुँचा कर लौट आएँगे।

नवयुवक—अगर आप ऐसा आग्रह करेंगे तो मैं ले ही नहीं जाऊँगा। आपको मेरी वीरता पर विश्वास नहीं है? क्या आप मुझे कायर समझते हैं? नहीं, मैं क्षत्रियपुत्र हूँ।

नवयुवक ने अपने तरकश में एक सौ बीस बाण ले लिये और पत्नी-सहित रथ में बैठ कर प्रस्थान किया। बीच में वही सुनसान घना जंगल पड़ा। चोर उसकी टोह में थे ही। मौका देखकर सामने आ गए और मुकाबिला करने को तैयार हुए। उधर से तीर आया और इधर नवयुवक ने भी तीर चलाया।

मगर नवयुवक का तीर किसी को लगा नहीं। अभागा तीर इधर--उधर होकर चला गया! नवयुवक ने इसी प्रकार ११९ तीर फेंक दिये, मगर चोरों का बाल भी बांका नहीं हुआ। सिर्फ एक तीर बच रहा। तीर एक और चोर पचास!

उस समय नवयुवक की पत्नी ने कहा--स्वामिन्! इसी तीर पर हम लोगों का जीवन--मरण निर्भर है। इसे अभी मत छोड़ देना। यह तीर व्यर्थ चला गया तो इज्ज़त--आबरु और जान भी चली गई! सभी कुछ इसी तीर पर दारमदार है। जरा ठहरिए और जब मैं कहूँ तब तीर चलाना।

क्षत्रियाणी ने रथ की झूल हटा कर अपना मुँह खोला और चोरों के सरदार की ओर देखा। उसका मुखड़ा चन्द्रमा के समान उज्ज्वल प्रकाश से देदीप्यमान अतिशय सौम्य था। वह रूपवती थी और अलंकारों से विभूषित थी। स्त्री रूपवती हो, अलंकारों से सुसज्जित हो, युवती हो और नाज़--नखरे वाली हो तो देखने वाले उसी प्रकार फँस जाते हैं जैसे कफ़ में मक्खी फँस जाती है या जाल में हिरन फँस जाता है!

क्षत्रियाणी ने घूंघट हटा कर ज्यों ही चोरों के मुखिया की ओर देखा और नज़र मिलाई कि मुखिया फँस गया! वह बेभान हो गया। उसी समय क्षत्रियाणी ने 'हूँ' कह कर बाण चला देने का संकेत किया। बाण छूटा और मुखिया धड़ाम से ज़मीन पर गिर पड़ा।

मरते-मरते मुखिया ने कहा—नौजवान, मत समझना कि मैं तेरे बाण से मर रहा हूं। मैं क्षत्रियाणी के नयन-बाण से मर रहा हूं!

यह एक नज़ीर है। आशय यह है कि उम्र के तीर खत्म हो रहे हैं। इन्हें निरर्थक मत फेंको। हम कहें वही करो। अवसर से लाभ उठाओ नहीं तो कौन जाने क्या गति होगी! इस अनमोल जीवन की कद्र करो। जरा विचार करके देखो कि जीवन की सार्थकता क्या करने में और क्या न करने में है! पुण्य के योग से तुम्हें वीतराग की वाणी सुनने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। निर्लोभ और त्यागशील गुरु मार्गदर्शन के लिए मिले हैं। उनकी बात मानो। ज्ञानी बनने का प्रयत्न करो। ज्ञानी बनने से तुम्हारे सब संकट कट जाएँगे; तुम्हें इसी जन्म में एक वचनागोचर सुख की अनुभूति होने लगेगी। ज्ञान इह-परलोक-दोनों में आनन्ददाता है।

अगर इस जीवन में कुछ न करोगे तो कहाँ ठिकाना पाओगे? भगवद्वाणी के अनुसार पुरुषार्थ न करने वालों का कहीं कल्याण नहीं हो सकता। जिसने वर्तमान जीवन में भविष्य का निर्माण नहीं किया वह शरीर त्याग कर जब अन्यत्र जाएगा तो उसकी क्या दशा होगी? गुमनाम बैरंग चिट्ठी को कौन झेलेगा? अतएव पहले से ही अपना स्थान निश्चित कर लो। बम्बई तक जाने के लिए रेल में पहले से स्थान रिज़र्व करा लेते हो! लेकिन निश्चित रूप से जो महायात्रा करनी है और जहाँ जाकर लम्बे समय तक रहना है, वहाँ की कुछ भी चिन्ता नहीं करते! कितना आश्चर्य। ज्ञानी पुरुष तुम्हारी यह दशा देखकर आश्चर्य करते हैं। उनका हृदय दया से द्रवित हो जाता है! वे सोचते हैं-इन अज्ञान प्राणियों का उद्धार कैसे होगा? मोह की निद्रा में मस्त हुए इन नादान जीवों का भला किस प्रकार होगा? मगर भाई, स्वयं पुरुषार्थ किये बिना तो कुछ काम बनने वाला नहीं है।

कौन नहीं जानता कि अपनी-अपनी वारी पर सब को महायात्रा पर जाना होगा? बचपन चला गया और यौवन आया–अन्धड़ की तरह-तूफ़ान की तरह। वह भी टिका नहीं। अब बुढ़ापा आ गया है। तो क्या यह निष्प्राण बुढ़ापा टिका रहेगा? यह तो सूचना दे रहा है कि शीघ्रता करो; सामान जुटा लो यात्रा का समय सन्निकट आ रहा है! अब बुढ़ापे में उपेक्षा से काम नहीं चलेगा। काले में धोला पड़ जाय तो खट सकता है, अगर धोले में धूल पड़ गई तो सारा खेल बिगड़ जाएगा! अर्थात् यह पिछली अवस्था भी बिगड़ जाएगी तो फिर पता नहीं लगेगा! तो फिर क्या करना चाहिए?

थारी सारी उमरिया, बातों में बीती जाय अब तो सोचरे ॥टेर॥
वक्त खरीदी का है मित्रो! सोच–समझ कर लेना,
जो कर्जे से मोल लिया तो, मुश्किल होगा देना।

भाइयो! यह वक्त खरीदने का है। मगर सोच-विचार कर खरीदना। जो कर्ज ही कर्ज करते जाओगे तो आगे पछताना पड़ेगा। फिर तुम्हारी रक्षा करने वाला कोई नहीं मिलेगा।

याद रक्खो, जो सो गया उसने खो दिया। सोता कौन है और जागता कौन है? ज्ञानी जागता है और अज्ञानी सोता है। जागते रहना है तो सम्यग्ज्ञान प्राप्त करो, विवेक प्राप्त करो। आत्मा को पहचानने का प्रयत्न करो और उसे विशुद्ध बनाने का उद्योग करो। जो जागेगा वह आत्मकल्याण में प्रवृत्त होगा। इसके विपरीत, जो सोता रह जाएगा, उसके लिए फिर वही चौरासी का चक्कर तैयार है!

सारांश यह है कि मानव--जीवन को कृतार्थ बनाने के लिए सर्वप्रथम सम्यग्ज्ञान और दर्शन प्राप्त करने की आवश्यकता है। इन्हें प्राप्त करके अत्मकल्याण के मार्ग पर अग्रसर होना चाहिए। ऐसा करने वाले ही धन्य और पुण्य हैं। उनका भविष्य आनन्दमय हो जाता है।

२८-१२-४८ }
पाली }

# सम्यग्दर्शन का चमत्कार

स्तुतिः—

छत्रत्रयं तव विभाति शशाङ्ककान्त—
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम् ।
मुक्ताफलप्रकरजालविवृद्धशोभम्,
प्रख्यापयत् त्रिजगतः परमेश्वरत्वम् ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं—हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

जब भगवान् ऋषभदेव समवसरण में विराजमान होते थे तो उनके मस्तक पर तीन छत्र सुशोभित होते थे। हाँ, वे सुशोभित होते थे, सुशोभित करते नहीं थे। भगवान् वीतराग की

छवि स्वतः लोकोत्तर सौन्दर्यशालिनी होती है। अतएव कोई भी भौतिक पदार्थ उनकी शोभा नहीं बढ़ा सकते,क्यों कि वह स्वयं बढ़ी हुई होती है। अलवत्ता, उनके सम्पर्क में आने वाले बाह्य पदार्थ ही भगवान् की छवि से सुशोभित होने लगते हैं। ये तीन छत्र एक दूसरे के ऊपर होते हैं। नीचे छोटा, उसके ऊपर उससे बड़ा और ऊपर सब से बड़ा। तीनों छत्र शरद् ऋतु के निरभ्र गगन में सुशोभित होने वाले चन्द्रमा के सदृश उज्ज्वल थे। उनके चारों ओर मोतियों की झालरें लटकी हुई थीं। उन छत्रों के कारण भगवान् को सूर्य का आतप नहीं लगता था।

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि भगवान् के मस्तक पर तीन ही छत्र क्यों होते हैं ? यदि कहा जाय कि देवता तीन ही छत्रों की रचना करते हैं,अतः तीन छत्र ही होते हैं, तो भी प्रश्न हल नहीं होता। आखिर देवता न्यून या अधिक न बना कर तीन छत्र ही क्यों बनाते हैं ? यह प्रश्न ज्यों का त्यों स्थिर रहता है ? वास्तविक बात यह है कि भगवान् ऋषभदेव तीनों ही जगत् के परमेश्वर हैं। ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक, यह तीन लोक हैं और इन तीनों लोकों में भगवान् का अप्रति-हत धर्मशासन प्रवर्त रहा है। इसी तथ्य को मूर्त्तिमान् रूप में प्रकट करने के लिए भगवान् के ऊपर अतिशय मनोहर और उज्ज्वल तीन छत्र रहते हैं।

राजा के एक ही छत्र होता है, क्योंकि उसका शासन सिर्फ एक ही लोक में होता है। परन्तु भगवान् का शासन जैसे मध्यलोक में वैसे ही ऊर्ध्वलोक और अधोलोक में भी होता है। भगवान् तीर्थङ्कर विश्व के समस्त प्राणियों के उद्धार के लिए,

उनके रक्षण और पोषण के लिए समान रूप से उपदेश देते हैं। प्रश्नव्याकरणसूत्र में कहा है:—

सव्वजगजीवरक्खणदयट्ठयाए,
पावयणं भगवया सुकहियं ॥

अर्थात् भगवान् ने समस्त जगत् के जीवों की रक्षा और दया के लिए प्रवचन का उपदेश दिया है।

अतएव तीर्थङ्कर भगवान् तीनों लोकों के पालक, रक्षक, और उद्धारकर्त्ता हैं। इस कारण उन्हें जगन्नाथ, जगदीश्वर और तीन लोक के नाथ भी कहते हैं। यही कारण है कि देवता भगवान् के मस्तक पर तीन छत्रों का निर्माण करते हैं तो जिनके मस्तक पर सुशोभित होने वाले तीन छत्र त्रिलोक सम्बन्धी परमेश्वरता को प्रकट करते हैं, उन ऋषभदेव को ही हमारा बार-बार नमस्कार हो।

भाइयो! भगवान् ने ठाणांग सूत्र में फर्माया है कि मनुष्य का उत्थान तीन ही बातों पर निर्भर है। वह तीन हैं— सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। इन्हें रत्नत्रय (तीन रत्न) भी कहते हैं। यही तीनों सम्मिलित होकर मोक्ष के मार्ग होते हैं। इनके विपरीत मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र यह तीन संसार के मार्ग हैं।

किसी मनुष्य को कोई शारीरिक व्याधि हो जाती है तो वैद्य उसे तीन चीजों की फांकी देता है। हरड़, बहेड़ा और आँवला, यह तीनो क्रमशः कफ, पित्त और वात को शांत करने वाले हैं। इन तीनों से उक्त तीन तरह की बीमारी दूर हो जाती है। वात, पित्त और कफ इन तीनों की सम-अवस्था को

स्वास्थ्य कहते हैं और विषम-अवस्था को बीमारी कहते हैं। सांख्यदर्शन के अनुसार सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण की साम्यावस्था प्रकृति कहलाती है और विषमावस्था विकृति कहलाती है।

आत्मा को भी तीन रोग लगे हुए हैं—(१) मिथ्यात्व (२) मोह और (३) अज्ञान। इन तीनों रोगों की तीन औषध हैं, जिन्हें अभी रत्नत्रय कहा जा चुका है।

समदर्शन मिथ्या रोग हरे, रोगों से ज्ञान बचाता है।
नित पुष्टि करता है चारित्र, वीतराग वैद्य जतलाता है॥

भाइयो! सब बीमारियों में मिथ्यात्व की बीमारी बड़ी जबर्दस्त है और उसे शांत करने की शक्ति सम्यग्दर्शन में ही है। मिथ्यात्व ही जन्म-मरण का मूल, संसार परिभ्रमण करनेवाला, आत्मा के स्वाभाविक गुणों को विकृत करने वाला और सभी अनर्थों का मूल है। मिथ्यात्व की विशेषता यह है कि इसके कारण आत्मा की विचारधारा ही विपरीत रूप ग्रहण कर लेती है। विचार उलटे हो जाते हैं और दृष्टि दूषित हो जाती है। इस दोष के प्रभाव से आत्मा अपने स्वरूप को भूल जाता है। जब तक दोष दोष समझा जाता है और बुराई को बुराई समझने का विवेक होता है, तब तक मनुष्य उससे शीघ्र मुक्त हो सकता है, किंतु जब दोष दोष ही मालूम नहीं होता तब उसके दूर होने की सम्भावना ही क्या की जा सकती है? सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि में सबसे बड़ा अन्तर यही है कि सम्यग्दृष्टि अपनी निर्बलताओं को समझता है, अपने दोषों और पापों को दोष और पाप समझता है और उनसे बचने की भावना रखता है।

वह सोचता है कि कौन शुभ समय आएगा कि मैं सब प्रकार की बुराइयों से बचने में समर्थ हो सकूँगा ! पर मिथ्यादृष्टि अपनी वर्त्तमान स्थिति में सन्तुष्ट रहता है और इस कारण वह उसमें कुछ भी सुधार की आवश्यकता नहीं समझता।

आप सोच सकते हैं कि जो रोगी रोग में ग्रस्त है, किंतु अपने को रोगी नहीं समझता, उसकी क्या हालत हो सकती है ? यही हाल मिथ्यादृष्टि का होता है।

भाइयो ! मिथ्यात्व की बीमारी बड़ी अद्‌भुत बीमारी है। यह वह बीमारी है जो बीमार को बीमारी का भान भी नहीं होने देती। यह बीमारी उस समय मिटती है, जब कोई सद्‌गुरु रूपी चतुर वैद्य मिल जाता है और अन्तरंग की कुछ शुद्धता होने लगती है। सम्यक्त्व इस बीमारी की अचूक राम-वाण औषध है। सम्यग्दर्शन के होने पर मिथ्यात्व नहीं ठहर सकता। दोनों परस्पर विरोधी हैं। मिथ्यात्व का उदय होने पर सम्यक्त्व समाप्त हो जाता है और सम्यक्त्व के होने पर मिथ्यात्व नष्ट हो जाता है। मिथ्यात्व की महाबीमारी हटी कि शेष समस्त बीमारियाँ भी अधिक काल नहीं टिक सकतीं। जैसे सेनापति का पतन होने पर सब सैनिक तितर-बितर हो जाते हैं, उसी प्रकार मिथ्यात्व के नष्ट होते ही अनेक शत्रु-सैनिक भाग खड़े होते हैं।

भाइयो ! बतलाइए, श्रावक को अठारह पापों में से कितने पाप लगते हैं ?

उत्तर मिला—'सत्तरह पाप लगते हैं !'

ठीक है, सम्यग्दृष्टि अठारहवाँ पाप नहीं करता । भवस्थिति पक जाने पर सम्यग्दर्शन आता है और भवस्थिति का पकना बड़ा कठिन है ।

एक बार बनारस नगरी में दो भाई रहते थे । उनके नाम जयघोप और विजयघोप थे । दोनों भाई बड़े पण्डित थे । वेद, इतिहास, निघंटु, न्याय और साहित्य आदि विविध विषयों में पारंगत थे । एकवार जयघोप प्रातःकाल गंगा-स्नान करने गये । उनकी चोटी बड़ी लम्बी थी । जब स्नान किया तो चोटी खोल कर उसे खूब धोया ! वापिस बाँधने लगे तो उसमें एक मछली भी बँध गई और तड़प-तड़प कर मर गई । स्नान के पश्चात् बाहर आकर धूप में चोटी सुखाने लगे तो वह मछली नीचे गिर पड़ी ।

मरी मछली को देख कर जयघोप के हृदय को बड़ी चोट पहुँची । वह अपनी असावधानी के लिए पछताने लगे और सोचने लगे-करने चले थे धर्म और हो गया अधर्म ! फिर सोचा-इसे गंगाजी में डाल दूं तो इसकी गति सुधर जायगी !

जयघोप पण्डित ने मरी मछली उठाई और उसे स्वर्ग में पहुँचाने के विचार से गंगाजी में डाल दी। गंगाजी में डालना था कि एक बड़ा मच्छ उस पर झपटा और उसे निगल गया !

जयघोप के विषाद का पार न रहा । वह सोचने लगे-मैं मछली का उद्धार करना चाहता था, मगर मच्छ उसे बीच ही में निगल गया ! अब मेरा कल्याण कैसे होगा ? हाय, मेरे कल्याण का क्या उपाय है ? मुझे क्या करना चाहिए ?

इस प्रकार विचार करते-करते वह घर की ओर तो नहीं गये, जूते और वस्त्र वहीं छोड़कर जंगल की ओर चल पड़े ।

कुछ दूर चले थे कि सामने से शनैः शनैः पैर आगे बढ़ाते हुए एक निर्ग्रन्थ मुनिराज आते दिखाई दिये। सन्निकट आये तो जयघोष ने उन्हें नमस्कार किया और हाथ जोड़ कर कहा- महात्मन्! मेरा उद्धार कैसे होगा?

मुनिराज—तेरा उद्धार तू ही करेगा!

जयघोष—सो कैसे महाराज?

मुनिराज—सर्वज्ञ प्रभु का आदेश है कि:—

'अप्पा! तुममेव तुमं मित्तं, किं बहिया मित्तमिच्छसि।'

अर्थात्—हे आत्मन्! तू अपना मित्र-सहायक-आप ही है; क्यों दूसरे सहायकों की अभिलाषा करता है?

प्रभु की इस वाणी में निराश, हताश और अपने आपको अकिंचत्कर समझने वालों को अपूर्व सान्त्वना है, प्रबल प्रेरणा है; स्फूर्त्ति है, जीवन है और गति देने की क्षमता है। यह एक ही वाक्य साहसहीनों के हृदय में साहस का स्रोत बहा देता है।

जयघोष—साहस, सान्त्वना और प्रेरणा होने पर भी सचाई तो होनी चाहिए महात्मन्! यह किस प्रकार सत्य है कि मैं अपना उद्धार आप ही कर सकता हूँ?

मुनिराज—उद्धार का अर्थ है तेरी आत्मा में जो शक्तियाँ स्वाभाविक हैं, किन्तु बाह्य पदार्थों के संयोग के कारण वे छिप गई हैं, दब गई हैं, उन्हें अपने असली रूप में लाना ही उद्धार का अर्थ है। वह शक्तियाँ तुम्हारे अज्ञान, वासना या कषाय आदि से छिपी या विकृत हुई हैं और तुम्हारे ही ज्ञान

एवं पुरुषार्थ से प्रकट हो सकेगी। क्या जैनशास्त्र और क्या अन्यशास्त्र सभी एक स्वर से यही संदेश देते हैं कि दूसरों की टांगों से तुम नहीं चल सकते; जब चलोगे, अपनी टांगों से चलोगे। कहा भी है—

उद्धरेदात्मनाऽत्मानम् ।

अर्थात्-अपना उद्धार आपसे ही करना चाहिए। दूसरों की सहायता के भिखारी बन कर तुम उठ नहीं सकते। दीनता अपने आपमें पतन है। पतन से उत्थान नहीं होगा। जैनशास्त्र इस संबंध में बहुत स्पष्ट है और उसके शब्द-शब्द से यही संदेश टपकता है—

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली ।
अप्पा कामदुहा धेणु, अप्पा मे नंदणं वणं ॥
अप्पा कत्ता विकत्ता य, दुहाण य सुहाण य ।
अप्पा मित्तममित्तं च, दुप्पट्ठिय-सुपट्ठिओ ॥

—उत्तराध्ययन, अ. २०

अर्थात्-प्रत्येक प्राणी का आत्मा ही वैतरणी नदी है, कूट शाल्मली वृक्ष है, आत्मा ही कामधेनु है और आत्मा ही नन्दनवन है।

प्रत्येक प्राणी आप ही अपने सुख और दुःख का स्रष्टा और संहारक है, स्वयं ही अपना मित्र और शत्रु है। जब वह सन्मार्गगामी होता है तो मित्र और जब उन्मार्गगामी होता है तब शत्रु बन जाता है!

तात्पर्य यह है कि जैसे वैतरणी नदी नरक का शाल्मली वृक्ष दुःख का कारण होता है उसी प्रकार अशुभ परिणति वाला आत्मा स्वयं अपने दुःख का कारण है। और जैसे कामधेनु तथा नन्दनवन सुख का कारण होता है, उसी प्रकार शुभ परिणति वाला आत्मा भी अपने सुख का कारण आप ही है।

हम से भिन्न कोई दूसरा हमें सुखी या दुखी बना सकता है, यह भ्रम मात्र है। संसार की कोई दूसरी सत्ता तुम्हें सुख-दुःख पहुँचाने में समर्थ नहीं है। तुम और केवल तुम ही अपने आपको सुखी-दुखी बनाते हो। ऐसा समझ कर जो सुख के लिए योग्य साधना करता है, वही सुखी होता है।

इस प्रकार मुनिराज ने बतलाया कि अपने उद्धार के लिए पराया मुँह ताकने से काम नहीं चलेगा। दूसरे के द्वारा किया हुआ उद्धार तुम्हारे काम नहीं आएगा। अतएव स्वयं उठो और प्रयत्न करो।

जयघोष—महात्मन्, तो आत्मोद्धार के लिए क्या करना चाहिए ?

मुनिराज—भव्य, यों तो इस प्रश्न का उत्तर लम्बा है, किन्तु संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि:—

कोऽहं कीदृक् कुत आयातः ?

अर्थात्—( १ ) मैं कौन हूँ ? ( २ ) मेरा स्वरूप कैसा है ? ( ३ ) मैं कहाँ से आया हूँ ? इन तीन प्रश्नों का समीचीन उत्तर प्राप्त करने से तुम्हारे भीतर दिव्य दृष्टि जागृत हो जायगी और फिर तुम अपने उद्धार का मार्ग आप ही खोज निकालोगे।

मैं कौन हूँ ? इस प्रश्न के उत्तर में अपने आपको पहचानने की बात है। अपने उद्धार की चिन्ता करने वाले को सर्वप्रथम अपना स्वरूप समझना चाहिए। दूसरा प्रश्न इससे मिलता-जुलता है, किन्तु उसमें आत्मा के गुणों के संबंध में विचार करना पड़ेगा। कई लोग समझते हैं कि आत्मा चार भूतों का ही पिण्ड है और इससे अतिरिक्त और कुछ नहीं है। न तो कहीं से आता है और न कहीं जाता है ? जैसे दीवार पर बनाया हुआ चित्र न कहीं से आया है, न कहीं जाता है; वह वहीं बनता और अन्त में वहीं मिट जाता है, इसी प्रकार देह में चेतना उत्पन्न होती है और देह में ही नष्ट हो जाती है। किन्तु वास्तव में ऐसी बात नहीं है। आत्मा अनादिनिधन है। उसकी स्वतंत्र सत्ता है। वह भूतों का पिण्ड नहीं है, शरीर नहीं है। वह ज्ञान-दर्शनमय ज्योति है। शरीर जुदा है आत्मा जुदी है। यह तो सब जानते हैं कि घर अलग है और घर में रहने वाला अलग है, इसी तरह शरीर और आत्मा न्यारे-न्यारे हैं। यही नहीं, आत्मा के अन्दर उत्पन्न होने वाले क्रोध, मान, माया, लोभ,रूप कषाय, कृष्ण नील कापोत तेजो पद्म और शुक्ल लेश्याएँ आदि-आदि भी आत्मा से विभिन्न हैं। राम झरोखे बैठ कर सबका मुजरा लेते हो, किन्तु झरोखा न्यारा है या नहीं ?

इन प्रश्नों पर विचार किये बिना मनुष्यपन का ज्ञान भी होना कठिन है।

इसीलिए मुनिराज कहते हैं कि तू कौन है, कहाँ से आया है और कहाँ का टिकिट कटाएगा, इन बातों का विचार करो।

कहाँ जाओगे ? जोधपुर, ब्यावर, उदयपुर या जयपुर जाओगे ? कहाँ जाकर बैठोगे ? सोचो कि जब आये थे तो साथ

में क्या-क्या लाये थे और जाओगे तो क्या-क्या ले जाओगे? हवेली छोड़ जाओगे या साथ में ले जाने का विचार है? गोखरु वाली बहिनो! यह गोखरु मत छोड़ना! साथ ही लेती जाना! हे पाली के सरदारो! अब यहाँ से कठे पधारोगा? ओ मिजाजी टट्टू! कहते हो कि जब तक जीऊँगा तब तक इससे नहीं बोलूँगा; और इसे तो धूल में ही मिलाकर दम लूँगा! मगर यह मिज़ाज कब तक रहेगा! दूसरों को धूल में मिलाने का विचार करने वालों को एक दिन राख में मिलना पड़ेगा। बड़े-बड़े शूरवीर और चक्रवर्त्ती इसी स्थिति को प्राप्त हुए हैं और इस काया का अन्तिम परिणाम इसके अतिरिक्त दूसरा कुछ नहीं है।

भाइयो! तुम मनुष्य हो और विश्व के समस्त प्राणियों में सबसे अधिक विकसित बुद्धि वाले प्राणी हो। तुम्हें अपने हित-अहित का विचार करने की विशिष्ट बुद्धि प्राप्त है। यह विवेकबुद्धि ही तुम्हारा सबसे बड़ा धन है। इस धन से तुम तुच्छ, निस्सार और विनश्वर वस्तुएँ मत खरीदो; पुद्गल के चमकते हुए टुकड़ों को प्राप्त करने में मत लगाओ। ऐसा करोगे तो यह बुद्धि का दुरुपयोग मात्र होगा। इस अनुपम बुद्धि धन से अपने असली स्वरूप का विचार करो। सोचो कि तुम कौन हो? कहाँ से आए हो? कहाँ जाने वाले हो? हे अनन्त के पथिक, तू अपनी यात्रा का विचार कर। तू आज जहाँ है, वह तेरा वासस्थान नहीं है, पड़ाव है। थोड़ी देर ठहर कर तुझे अपनी यात्रा पर रवाना होना है। उस यात्रा के लिए भी कुछ व्यवस्था कर ले। उसे सुखपूर्ण बनाने के लिए कुछ सामान जुटा ले! अन्तर्दृष्टि से विचार कर। अपने भविष्य को उज्ज्वल बना ले!

तू कौन है ? ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र है ? ब्राह्मण आदि किसीके नाम हैं ? संचेतीजी, कोठारीजी, सूयाजी और वालियाजी किसको कह रहे हो ? हाथ को या नाक को ? कहो, स्त्री और पुरुष कौन है ? कागज़ को थूक लगा कर दीवार से चिपका दो तो वह कितनी देर टिकेगा ? वह तो थोड़ी ही देर में खिर जाएगा। दीवार से चिपका देने पर भी कागज़ दीवार से अलग है। इसी प्रकार ब्राह्मणत्व आदि और जाति तथा गोत्र आदि सब चीजें आत्मा से भिन्न हैं। आत्मा इन सबसे निराला है। वह शरीर से ही भिन्न नहीं है, कर्मों से और कर्मोपाधि-जनित समस्त पर्यायों से भी भिन्न है। वह औदयिक भावों से औपशमिक और क्षायोपशमिक भावों से भी भिन्न है। और जब इन सब से भी भिन्न है तो महल, मकान, दास-दासी, हाथी-घोड़ा, पुत्र, कलत्र आदि से अभिन्न कैसे हो सकता है ?

एक कुम्हार ने मटके बनाए और बाज़ार में बेचने बैठा है। उन मटके पर किसी का नाम नहीं लिखा है कि यह ब्राह्मण का मटका है, यह क्षत्रिय का मटका है, यह वैश्य का और यह शूद्र का मटका है। किन्तु जो जिस मटके को खरीद कर ले जाता है, वह उसी का मटका कहलाता है। यद्यपि सभी मटके एक सी मिट्टी के बने हैं, एक ही कारीगर ने बनाए हैं और एक साथ बेचने के लिए रक्खे हैं, किसी मटके पर किसी का नाम नहीं लिखा है, फिर भी वह खरीददार का कहलाने लगता है। जिसे ब्राह्मण ने खरीदा वह ब्राह्मण का, जिसे चमार ने लिया वह चमार का कहलाया। एक मटका महतरानी ने खरीदा और पानी भर कर उसने कहीं रास्ते में रख दिया। ब्राह्मणी उधर से निकलती है तो अपने कपड़े बचा कर निकलती है। समझती है, मटका छू गया तो मैं अपवित्र हो जाऊँगी ! किन्तु यह

स्थिति भी कब तक रहती है ? जब तक वह मटका फूट नहीं जाता तभी तक वह अस्पृश्य है। महतरानी उस मटके को लेकर चली। ठोकर लगी और मटका फूट कर टुकड़े-टुकड़े हो गया। वह टुकड़े रास्ते में बिखरे हैं। ब्राह्मणी आती है और निस्संकोच उन पर पैर रखती चली जाती है। अब वह परहेज नहीं करती। क्यों ? इसलिए कि जब तक मटका अक्षत था तब तक महतरानी का उसके प्रति अपनापन था। अब उसका अपनापन नहीं रहा तो ब्राह्मणी को परहेज भी नहीं रहा।

सार यह है कि अपनापन ही नाना प्रकार की कल्पनाओं का कारण है। अपनापन अर्थात् ममत्व हटा कि संकट कटा, अज्ञान का पर्दा हटा और मिथ्यात्व मिटा ! जब तक ममत्व की मिथ्यादृष्टि बनी है तभी तक चौरासी का चक्कर चल रहा है। मिथ्यादृष्टि, सम्यग्दर्शन से नष्ट होती है।

सम्यग्दर्शन में ऐसी अपूर्व शक्ति है कि वह मिथ्याज्ञान को भी सम्यग्ज्ञान बना देता है। सम्यग्ज्ञान नयी बीमारी पैदा नहीं होने देता और पुराने रोगों को मिटाता है। अज्ञानी जीव करोड़ों वर्षों तक घोर तपश्चरण करके जिन कर्मों को नष्ट कर पाता है, ज्ञानी उन्हें क्षण भर में समाप्त कर देता है। सम्यग्ज्ञान की महिमा अपूर्व है। ज्ञान वह उज्ज्वल और पवित्र प्रकाश है जिसमें स्व-पर का भेद दिखलाई देता है और जिसके अभाव में, हजारों दीपक प्रज्वलित होने पर भी घोर अन्धकार ही अन्धकार है ! ज्ञान के अभाव में की जाने वाली समस्त क्रियाएँ बन्ध का ही कारण होती हैं। वही चारित्र में प्राण-शक्ति उत्पन्न करता है। ज्ञानपूर्वक की जाने वाली क्रियाएँ ही मुक्ति का कारण बनती हैं।

भाइयो ! ये बातें मैं अपनी ओर से नहीं कह रहा हूँ। आत्मा की बीमारियों के ज्ञाता वीतराग भगवान् रूपी महावैद्य ने यह दवाई बतलाई है। उन्हीं की बतलाई हुई दवाई मैं आपको बतला रहा हूँ। इसका सेवन करोगे तो सब बीमारियों से छुटकारा पा जाओगे।

मतलब यह है कि सम्यग्दर्शन मिथ्यात्व को हरेगा, सम्यग्ज्ञान नयी बीमारी नहीं होने देगा और चारित्र स्वास्थ्य को पुष्ट करेगा। तुम पौषध करते हो और कहते हो कि आज हमारे चौदस का पौषध है, मगर तुम्हें यह भी जानना चाहिये कि वास्तव में पौषध किसे कहते हैं? वास्तव में तुम्हारी वह क्रिया, जो आत्मा के गुणों को पुष्ट करने वाली हो, पौषध कहलाती है। आत्मा के गुण ज्ञान-दर्शन आदि हैं। इन्हें मजबूत बनाना ही असली पौषध है। पौषध हो या और कोई भी क्रिया हो, सम्यग्दर्शन के बिना उसका मूल्य नहीं है। एक जन्म में एक मिनिट के लिए भी सम्यग्दर्शन आ गया तो बेड़ा पार हो गया समझो। अन्तर्मुहूर्त्त जितने अल्प काल तक रहने वाले सम्यग्दर्शन में भी इतनी आश्चर्यजनक शक्ति होती है कि वह जन्म-मरण की असीमता को समाप्त करके सीमित कर देता है। वह कृष्णपक्षी से शुक्लपक्षी बना देता है और मोक्ष की एक निश्चित काल-मर्यादा कायम कर देता है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात्, भले ही वह विद्यमान न रहे, फिर भी आधे पुद्गलपरावर्त्तन से अधिक जन्म-मरण नहीं करना पड़ता।

इसीलिए भाइयो ! आने दो, आत्मा के इस सरोवर में एक लहर सम्यग्दर्शन की आने दो। एक ही लहर तुम्हारे अनन्त ताप को शान्त कर देगी, अनिर्वचनीय शीतलता उत्पन्न

करेगी ! उस लहर में स्नान करके तुम कृतार्थ हो जाओगे ! हे प्राणी ! तेरे अन्तःकरण में सदैव लवणसमुद्र भरा रहता है तो एक लहर गंगा की भी आने दे ! गंगा की एक ही लहर तेरे अनादिकालीन कल्मष को धो देगी; तेरा अन्तःकरण विमल और विशुद्ध बन जाएगा ! तेरी साधना और तेरी तपस्या पवित्र हो जाएगी ! हे आत्मन् ! उपदेशक तुझे मार्ग बतला सकता है, किन्तु चलना तो तुझको ही पड़ेगा ! अपना उद्धार तो तुझे आप ही करना पड़ेगा।

हाँ, तो मुनिराज का यह सुधास्यन्दि उपदेश सुनकर जयघोष पण्डित के नेत्र खुल गये। उसका पांडित्य चमक उठा ! आज ही उसे ज्ञान का सार प्राप्त हुआ। इतने दिनों तक वह पण्डिताई का भार ढो रहा था, अब उसकी पण्डिताई उसके लिए पंख बन गई ! ऊँचा उड़ने का कारण बन गई। जयघोष को आत्मा की शक्ति का भान हो गया। वह सोचने लगा-ओह, मैं स्वयं ही अपना उद्धार कर सकता हूँ ! मेरा कल्याण मेरे ही द्वारा होगा ! अपने श्रेयस् के लिए मुझे किसी के सामने भिखारी की तरह भीख नहीं माँगनी है। मेरे कल्याण की चाबी मेरे ही हाथ में है ! तब फिर आत्मकल्याण की साधना में क्यों विलम्ब करना चाहिए ? 'शुभस्य शीघ्रम्' करना ही योग्य है।

अन्तःकरण में उच्च भावना की ऊर्मियाँ उठने लगीं और जयघोष ने उसी समय अठारह पापों का त्याग करके भागवती दीक्षा धारण कर ली। उन्होंने मासखमण की तपस्या भी आरंभ कर दी।

भाइयो ! आत्मोन्मुख ज्ञान चाहिए। जब इस प्रकार का ज्ञान प्रकट हो जाता है तो मनुष्य कल्याण-मार्ग में प्रस्थान

करने में देरी नहीं करता। जब तक ज्ञान नहीं होता तब तक ही सपने में भूत और भूतनी नाचा करते हैं। वास्तव में मिथ्यात्व भूत के समान ही है। जैसे भूत के आवेश में मनुष्य कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, औचित्य-अनौचित्य आदि को भूल जाता है और यद्वा-तद्वा बकता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व के आवेश में भी सत्-असत् का विवेक भूल जाता है। जगत् में नाना प्रकार की भ्रमपूर्ण विचारधाराएँ प्रचलित हैं। उन सब के मूल को खोजने के लिए चलेंगे तो स्पष्ट मालूम हो जायगा कि वह मूल मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व से प्रेरित मनुष्य असत् को सत् और सत् को असत् प्रतिपादित करने लगता है। कोई अजर-अमर आत्मा के अस्तित्व का निषेध करता है, कोई स्वर्ग-नरक आदि परलोक का निषेध बतलाता है, कोई रागी-द्वेषी व्यक्तियों की देवाधिदेव के रूप में उपासना और अभ्यर्चना करते हैं, कोई कंचन-कामिनी के क्रीत दासों को गुरु बना लेते हैं और उनके प्रसाद से अपनी लौकिक कामनाएँ पूर्ण करने की आशा रखते हैं। कोई भैरों-भवानी के सामने पुत्र-पौत्र पाने की इच्छा से मस्तक रगड़ते हैं, कोई-कोई वीतराग देव की उपासना धन-दौलत पाने की अभिलाषा से करते हैं! कहां तक कहें और कहां तक गिनाएँ! मिथ्यात्व तो ऐसा भूत है कि उसने सहस्रों रूप धारण कर रक्खे हैं। कोई किसी रूप से और कोई किसी रूप से मूढ़ बना हुआ है। सारे संसार में इस भूत का दौरदौरा है। स्वर्ग-नरक और मर्त्यलोक सभी में इसका प्रवेश है। यह भूत संसार को चक्कर में डाले है। यह अत्यन्त प्रचण्ड है।

जब सद्गुरु रूपी महामांत्रिक का संयोग मिलता है और अनन्तानुबन्धी चौकड़ी तथा दर्शनमोहनीय की तीनों

प्रकृतियों का उपशम, क्षय अथवा क्षयोपशम होता है, तब कहीं इस भूत की शक्ति ढीली पड़ती है और इससे पिण्ड छूट पाता है। परन्तु ऐसा सुयोग सब को नहीं मिलता। इसके लिए तीन करण करने पड़ते हैं। उनके पश्चात् ही सम्यग्दर्शन का लाभ होता है और सम्यग्दर्शन ही मिथ्यात्व रूपी भूत को भगाने की रामबाण दवा है।

हाँ, तो जयघोष मुनि मासखमण की तपस्या करते हुए, गुरु के चरणों में निवास करने लगे और पूर्वश्रुत का अध्ययन करने लगे। जब श्रुत का अध्ययन समाप्त हो गया तो गुरु से पृथक् भी विचरण करने लगे।

उधर जयघोष का भाई विजयघोष, बहुत देर तक अपने भाई को घर लौटा न देख कर गंगाजी के घाट पर आया। विजयघोष ने देखा—जयघोष के जूते और कपड़े पड़े हैं किन्तु उसका पता नहीं है ! उसे निश्चय हो गया कि मेरा भाई गंगा में डूब कर मर गया है। उसके चित्त में घोर सन्ताप हुआ, परन्तु मनुष्य ऐसी जगह एकदम असहाय और निरुपाय है !

विजयघोष अपने भाई का सामान लेकर घर लौटा और सारा क्रियाकर्म संस्कार किया। उसने कुछ समय के अनन्तर अपने भाई के नाम से एक यज्ञ का अनुष्ठान किया। संयोगवश उधर यज्ञ हो रहा था कि जयघोष मुनि वहाँ जा पहुँचे। वह मासखमण का पारणा करने के लिए, भिक्षा के अर्थ, तीसरे पहर में गोचरी को निकले। चलते-चलते अपने भाई विजयघोष के घर पहुँचे। उन्होंने देखा कि यहाँ तो यज्ञ का समारंभ चल रहा है।

मुनि को देख कर, दूसरे पण्डितों ने कहा-'महात्मन्' यहाँ आपकी कोई आवश्यकता नहीं है ! इस प्रकार जब आपस में वार्तालाप होने लगा तो विजयघोष भी भीतर से बाहर आ गये ! विजयघोष ने दृष्टि पड़ते ही अपने ज्येष्ठ भ्राता को पहचान लिया। उसने कहा-महात्मन् ! भोजन ग्रहण कीजिए। दीक्षा ग्रहण करने की सूचना भी आपने नहीं दी !

मुनिराज बोले-मैं भोजन लेने यहाँ नहीं आया हूँ; मैं तो तुम्हें तिरने का मार्ग बतलाने आया हूँ। जिस उपाय से मैं तिरा, वही उपाय तुम्हें बतलाना चाहता हूँ।

भाइयो ! संसार में कौन मित्र और कौन शत्रु है ? वास्तव में जो हमारे धर्म का सहायक हो वही सच्चा मित्र है और जो कुमार्ग की ओर ले जाय वही शत्रु है। धर्म के पथ पर चलाने वाले से बढ़ कर और कोई मित्र तथा सहायक नहीं हो सकता ! जम्बूकुमार की जीवनी मालूम है ? उनकी सद्यःपरिणीता पत्नियाँ उन्हें गृहस्थाश्रम में रखना चाहती थीं और जम्बू कुमार उन्हें संयम के पथ पर ले जाना चाहते थे। आपस में लम्बा वार्त्तालाप चला। आखिर जम्बूकुमार की विजय हुई। उनकी पत्नियों को जब ज्ञान हुआ तो वे कहने लगीं-संसार के दूसरे पति डूबाने वाले हैं ! हम बड़ी भाग्यशालिनी हैं कि हमें आप सरीखे तारने वाले पति मिले हैं !

अभिप्राय यह है कि वास्तव में अपना प्यारा वही है जो अपने को धर्म की सहायता दे। किसी जगह साधुजी विराजमान थे और सतियाँ भी विराजमान थीं। वहाँ एक देव आया और उसने साधु-साध्वियों को नमस्कार न करके सब से पहले एक महिला को नमस्कार किया। तब लोग कहने लगे—महा-

राज, मनुष्य तो भूल जाते हैं किन्तु क्या देवता भी भूल जाते हैं ? इस देव ने आप जैसे केवलज्ञानी को छोड़कर पहले एक बाई को नमस्कार किया ! इसका क्या कारण है ?

केवलज्ञानी बोले—इस देवता पर बाई का महान् उपकार है। कहा भी है:—

गुरु गोविन्द दोनों खड़े, किसके लागूं पाय ?
बलिहारी गुरुदेव की, गोविन्द दिया बताय ॥

भक्त सोचता है—गुरु और देव दोनों सामने उपस्थित हैं। पहले किसको नमस्कार करना चाहिए ? इस प्रकार का संकल्प-विकल्प होने पर उसकी बुद्धि निर्णय देती है कि गुरु न होते तो कैसे पता चलता कि यह देव हैं और हमारे आराध्य हैं ? गुरुजी ने ही तो भगवान् का स्वरूप समझाया है। अतएव मेरे आसन्न उपकारी गुरु महाराज ही हैं। इन्हीं के अनुग्रह से मैं ने परमात्मा का स्वरूप समझा है।

देखो, णमोकार मंत्र में पहले अरिहन्तों को और फिर सिद्धों को नमस्कार किया गया है। पद तो सिद्धों का बड़ा है। उन्होंने आठों कर्मों को खपा कर मुक्ति प्राप्त कर ली है। अरिहन्त चार कर्मों का ही क्षय करते है। फिर भी पहले अरिहन्तों को क्यों नमस्कार किया गया ? कारण यही कि अरिहन्त भगवान् न होते तो सिद्धों का स्वरूप बतलाने वाला इस जगत् में कोई न होता !

तो मुनिराज ने कहा—देवता ने भूल नहीं की है। इस बाई मदनरेखा का इस देवता पर महान् उपकार है। यह देवता

इस बाई के पूर्वभव का पति युगबाहु है। युगबाहु को उसके बड़े भाई ने जब तलवार से घायल कर दिया तब वह न रोई, न चिल्लाई और न हाय-हाय करने बैठी। इसने हृदय को दृढ़ करके, धैर्य तथा साहस रख कर, घायल पति का सिर अपनी गोद में रख लिया और उसे नमस्कार मंत्र सुनाने लगी। साथ ही प्रतिबोध दिया कि-तलवार मारने वाले का अपराध नहीं है। उस पर रोष या द्वेष मत धारण करना-चित्त में द्वेष की हल्की सी लहर भी न आने देना। जो भी घटता है, सब अपने कर्म के उदय से ही घटता है। अपने सुख-दुःख के लिए प्रत्येक प्राणी आप ही उत्तरदायी है। ऐसा सोचकर समभाव धारण करो और परमेश्वर के साथ आत्मा को जोड़ दो! ऐसा करने से आपका अन्तिम समय सुधरेगा। मन में कषाय लाने से भविष्य बिगड़ जाना निश्चित है।

बहिनो! पत्नी का क्या कर्त्तव्य है, इस घटना से सीखो। अगर तुम अपने पति की सच्ची हितैषिणी हो तो अपने पतिको धर्म के मार्ग में प्रेरित करो। ऐसे नाजुक प्रसंग पर भी जो बाई धीरज रखकर पति के धर्म में सहायक होती है, वही वास्तव में धर्मसहायिका पत्नी है। इसी अभिप्राय से शास्त्र में पत्नी को 'धम्मसहाया।' कहा गया है।

हंस जाता है इसको सलाह ले,
इसके हाथ से सुकृत करा ले ॥

भाइयो! यह हंस निकल कर जा रहा है, इसे सँभालो और अन्त समय में इससे कुछ सुकृत करा लो। बहिनो! तुम्हारे पति ने तुम्हें अनेक आभूषण पहनाए हैं। एक आभूषण तुम भी

उसे पहना दो ! अन्तिम समय में धर्म का साज़ दे दो ! रोने बैठोगे तो क्या होगा ? दुनिया को भले दिखला दो कि तुम्हें पति से प्रेम है, मगर इससे न पति को कल्याण होगा, न तुम्हारा कल्याण होगा। तुम मोह में पड़ कर मरणासन्न पति के चित्त में भी मोह उत्पन्न करोगी और उसके अन्तिम जीवन को बिगाड़ दोगी। यह धर्म में सहायक होना नहीं है। अगर तुम शास्त्र के अनुसार सच्ची पत्नी हो तो ऐसे प्रसंग पर पति को णमोकार मंत्र सुनाओ, संथारा कराओ, वैराग्यमय भजन सुनाओ और संसार की अनित्यता समझाओ। कहो कि हमारी चिन्ता मत करना। हम अपने कर्म भोगेंगे, आप शुभ भावना लेकर पधारो। झूठी मोह-ममता में मत फँसो ! इतने काल का ही संयोग था। संयोग के बाद वियोग तो होना ही था, अब हो रहा है। इसमें कोई अद्भुत बात नहीं है। यह तो अनादि की रीति है।

तो मदनरेखा ने अपने परलोकप्रयाण के लिए उद्यत पति से कहा-पतिदेव ! किसी पर द्वेष न करना। हृदय में समभाव की तरंगें उठने दो। संसार को भूल जाओ और परमात्मा के चरणों में अपने आपको अर्पित कर दो !

युगबाहु ने मदनरेखा का कथन मान लिया। उसने अपने चित्त को निष्कषाय बना लिया और नमस्कारमंत्र में ध्यान लगा लिया। उसके परिणामस्वरूप वह प्रथम देवलोक में देवता के रूप में उत्पन्न हुआ है और वही देवता इस समय यहाँ आया है ! देवता अपने अवधिज्ञान के बल से जानता है कि मदनरेखा ने धर्म की सहायता देकर मेरा महान् उपकार किया है। अतएव कृतज्ञता से प्रेरित होकर इसने पहले मदन-रेखा को नमस्कार किया है। कहा भी है:—

जगत में वो ही सच्ची नार,
पति का देवे जन्म सुधार ॥टेर॥

उपस्थित जनों को यह घटना सुनकर विस्मय हुआ। फिर मुनिराज ने कहा—सचमुच इस संसार में सच्ची अर्द्धाङ्गिनी पद की अधिकारिणी वह नारी है, उसी को 'धर्मपत्नी' का गौरवपूर्ण पद दिया जा सकता है, जो अपने पति के आत्मिक कल्याण में सहायिका बनती है और अवसर आने पर पति की अन्तिम गति को सुधार देती है। 'भोगपत्नी' तो सभी होती हैं, पर धर्मपत्नी का पद पाना सरल नहीं है। भोगपत्नी स्वयं डूबती है और अपने पति को भी डुबाती है। वह अपने पति के सत्व को चूसने वाली है। धर्मपत्नी अपने और पति के भी कल्याण में सहायक होती है।

भाइयो! साधारण स्त्री होती तो ऐसे दारुण अवसर पर हाय-हाय मचा कर रोती, विलखती और अपने सुख के भंग हो जाने के लिए शोक करती। वह अपने स्वार्थ के लिए संताप करती। परन्तु सती मदनरेखा एक असाधारण महिला थी। युगबाहु का अन्तिम समय उपस्थित होने पर उसने अपने स्वार्थ का विचार नहीं किया। वह अपना सुख छिन जाने के लिए रोई नहीं। बल्कि पति के कल्याण की चिन्ता की। वह मिथ्या मोह में नहीं पड़ी, विवेक का आश्रय लेकर पति को तत्त्व की बात समझाने लगी। उसने यही कहा—पतिदेव, होनहार टलने वाला नहीं है। भगवान् केवली ने अपने ज्ञान में जो देखा है, वह विपरीत परिणत नहीं हो सकता। यह तो इसी प्रकार होने वाला था। अतएव आप मणिरथ के कृत्य का विचार करके कषाय का उद्रेक मत होने देना। आत्मा अखण्ड और

अविनाशी है। शरीर नाशवान् है। दोनों का शाश्वत साहचर्य संभव नहीं है। कोई किसी निमित्त से और कोई किसी निमित्त से इस शरीर का परित्याग करता है। कोई-कोई तो चलते-चलते ही ठोकर खाकर गिरता और प्राण छोड़ देता है। कोई मकान आदि ऊँची जगह से गिरकर मर जाता है। कोई मोटर के 'एक्सीडेंट' से चल देता है तो कोई रेलों के लड़ने पर अन्तिम विदाई ले लेता है! किसी-किसी के प्राणों को हवाई जहाज़ उड़ा ले जाते हैं। कोई-कोई मनुष्य के द्वारा शस्त्रों से मारे जाते हैं और कोई सर्प, सिंह आदि हिंसक जीव-जन्तुओं के शिकार बन जाते हैं। किसी के हृदय की धड़कन सहसा बंद हो जाती है और बातें करते-करते प्राणहीन हो जाता है। इस प्रकार इस जगत् में मृत्यु के असंख्य कारण विद्यमान हैं। इन मौत के प्रचुर और सुलभ निमित्तों को देखते हुए आश्चर्य हो सकता है तो इसी बात का कि मनुष्य इतना भी कैसे जीवित रह जाता है! उसके मरने में तो कोई आश्चर्य है ही नहीं। फिर भी आत्मा अजर-अमर है। संसार के समस्त निमित्त एकत्र होकर भी आत्मा को नहीं मार सकते। मणिरथ ने युगबाहु के शरीर को समाप्त कर दिया, पर क्या वह आत्मा का अन्त कर सका? युगबाहु की आत्मा तो देवता बन कर चमकी!

मुनिराज के द्वारा देवता का जो वृत्तान्त सुना तो मदन-रेखा को अतीव हर्ष हुआ। वह खड़ी होकर कहने लगी—अब आप मुझे आज्ञा दीजिए; मैं साध्वीदीक्षा लेना चाहती हूँ।

देवता ने कहा—खुशी से लो!

सती मदनरेखा महासती बन गई।

भाइयो ! तो ज्ञानी कौन और अज्ञानी कौन है ? जो दूध में नमक डालता है वह अज्ञानी है और जो दूध में मिसरी घोलता है वह ज्ञानी है। अर्थात् दूध के समान मनुष्य जीवन में विषय-वासना का नमक मिलाने वाला अज्ञानी और धर्म की मिसरी घोलने वाला ही वास्तव में ज्ञानी है।

जयघोष मुनि ने अपने जीवन में धर्म की मिसरी घोल ली थी। वह अपने भाई को भी उसका मधुर स्वाद चखाना चाहते थे। अतएव वे विजयघोष से बोले-पांडित्य की सार्थकता संयममय जीवन में है। उद्धार चाहते हो तो निकल पड़ो घर से और ले लो यह साधु दीक्षा ! याद रक्खो, रेती का लड्डू बना कर दीवार पर मारोगे तो रेती चिपकेगी नहीं, किन्त चिकनी मिट्टी का लड्डू वहीं चिपक कर रह जाएगा। तुम्हारे चित्त में भोगों की स्निग्धता होगी तो चौरासी के चक्कर में पड़े रहोगे और भोगों के प्रति रूक्षवृत्ति होगी तो चक्कर में नहीं पड़ोगे।

जयघोष के वचन सुनकर विजयघोष को प्रतिबोध प्राप्त हुआ। वह उसी समय सर्वस्व त्याग कर साधु बन गया। दोनों भाई तपस्या करके, केवलज्ञानी होकर सिद्ध--बुद्ध हुए।

आशय यह है कि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान आने पर आत्मा के कल्याण में बहुत विलम्ब नहीं लगता। अतएव अपने सम्यक्त्व को निर्मल और सुदृढ़ बनाओ। मानवजीवन की यही महान् सफलता है। इस प्रकार की सफलता जिन्हें प्राप्त होती है, उनके जीवन में आनन्द ही आनन्द हो जाता है !

२६-१२-४८ }
पाली }

# पाँच आस्रव
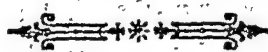
स्तुतिः—

> कुन्दावदातचलचामरचारुशोभम्,
> विभ्राजते तव वपुः कलधौतकान्तम् ।
> उद्यच्छशाङ्कशुचिनिर्झरवारिधार,
> मुच्चैस्तटं सुरगिरेरिव शातकौम्भम् ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय ? हे प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

जब भगवान् समवसरण में विराजमान होते थे तो उनके दोनों तरफ दो श्वेत चामरों के जोड़े होते थे । आचार्य महाराज ने चामरयुगल का अत्यन्त सुन्दर रूप में वर्णन किया है । भगवान् का शरीर स्वर्ण के समान उज्ज्वल वर्ण का था और उस पर

श्वेत चामर इस प्रकार शोभायमान होते थे जैसे सुमेरु पर्वत के स्वर्णमय शिखर पर उदीयमान चन्द्रमा के समान स्वच्छ निर्झर की जलधारा सुशोभित हो रही हो ! ऐसे भगवान् ऋषभदेव को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

भाइयो ! यह चामर क्या सूचना देते हैं ? वे जगत् को सूचित करते हैं कि देखो, जैसे हम पहले नमते हैं, तब कहीं ऊपर जाते हैं; अतः अगर तुम भगवान् के चरणों में नमोगे तो स्वर्ग और मोक्ष के अधिकारी हो जाओगे। वस्तुतः नम्रता या विनय समस्त गुणों का आधार है। विनय खींच-खींच कर अन्य सद्गुणों को ले आती है। कहा भी है:—

> विनयेन विहीनस्य, व्रतशीलपुरस्सराः ।
> निष्फला सन्ति निःशेषा, गुणा गुणवतां मताः ॥

× × × ×

> विनयः कारणं मुक्तेर्विनयः कारणं श्रियः ।
> विनयः कारणं प्रीते-र्विनयः कारणं मतेः ॥

यहाँ अविनय और विनय दोनों के गुण-अवगुण पर प्रकाश डाला गया है। अविनय से क्या हानियाँ होती हैं ? जिसमें विनय नहीं है, उसके व्रत, शील आदि-आदि सभी गुण, जिनकी गुणी जन प्रशंसा किया करते हैं, निष्फल हो जाते हैं। अविनय सभी सद्गुणों को व्यर्थ बना देती है। इसके विपरीत. विनय अखण्ड सुखस्वरूप मुक्ति को प्रदान करती है; विनय से सब प्रकार की श्री प्राप्त होती है, विनय से प्रीति की उत्पत्ति होती है और विनय से मति अर्थात् ज्ञान का लाभ होता है।

विनय अपने आपमें एक महान् गुण है; यही नहीं वरन् वह सभी गुणों का आधार भी है। विनय से अनेक सद्गुण प्राप्त होते हैं और विनय दूसरे सब गुणों में एक प्रकार की चमक उत्पन्न कर देता है। इसी कारण वीतराग देव ने विनय-मूलक धर्म की स्थापना की है, अर्थात् समस्त धार्मिक आचार-विचार को विनय की नींव पर प्रतिष्ठित किया है।

विनय का विरोधी अवगुण अभिमान है। जहाँ अभिमान होगा वहाँ विनय नहीं रह सकता और जहाँ विनय होगा वहाँ अभिमान की पैठ नहीं हो सकती। यद्यपि मनुष्य के पास अभिमान करने योग्य कोई वस्तु नहीं है, फिर भी वह अहंकार में डूबा रहता है। जरा विचार कीजिए कि आपके पास अभिमान करने योग्य क्या है? आपका शरीर इतना अशुचि है कि संसार में दूसरी कोई वस्तु इतनी अशुचि नहीं। उत्तम से उत्तम वस्तु शरीर के सम्पर्क में आकर अशुचि बन जाती है। षट्रस भोजन को मल-मूत्र के रूप में परिणत कर देने वाले रक्त, मांस एवं हाड़ों के लोथड़े इस शरीर पर कौन विवेकी अभिमान कर सकता है? जिसमें से निरन्तर अशुचि पदार्थ बहते रहते हैं, जो क्षण भर में निर्जीव बन कर घोर बदबू देने लगता है और फिर जिसे प्रिय से प्रिय स्वजन भी शीघ्र से शीघ्र आग में झौंक देने को तैयार हो जाते हैं, उस शरीर पर अभिमान!

कई लोग अपनी विद्या और बुद्धि का अभिमान करते हैं, परन्तु विवेकपूर्वक विचार किया जाय तो विद्या और बुद्धि की क्षुद्रता स्पष्ट हो जाती है। हे जीव! तू मूल स्वभाव से सर्वज्ञ और सर्वदर्शी है किन्तु ज्ञानावरण और दर्शनावरण

कर्मों ने तेरी उस असीम शक्ति को आच्छादित कर दिया है। तेरी मौजूदा ज्ञान शक्ति और दर्शनशक्ति केवलज्ञान दर्शन की तुलना में नगण्य है। तू इन्द्रियों का गुलाम बन रहा है। इन्द्रियों के सहारे थोड़ा जानता और देखता है। फिर भी अभिमान करता है?

इसी प्रकार चक्रवर्ती की तुलना में अपने वैभव का विचार कर। कितना तुच्छ है तेरा वैभव! चक्रवर्ती को जाने दे और संसार में आज भी बड़े-बड़े वैभवशाली हैं, उनसे अपनी तुलना करके देख ले! क्या तेरे अभिमान के लिए कोई अवकाश है?

तू जाति और कुल का अभिमान करता है? परन्तु शास्त्र में कहा है—

न दीसइ जाइविसेस कोवि।

अर्थात् जाति की कोई विशेषता मनुष्य में दृष्टिगोचर नहीं होती। जैसे हाथ, पैर, पेट, दिमाग आदि अवयव तेरे हैं, वैसे ही मनुष्य मात्र के होते हैं। तुझ में कौन-सी विशेषता है, जिससे तू दूसरों को हीन और अपने को विशिष्ट समझता है?

इस प्रकार जब विचार किया जाता है तो विदित होता है कि मनुष्य के पास गर्व करने के लिए कुछ भी नहीं है। फिर भी वह अज्ञान के वशीभूत होकर अपनी क्षुद्रता को नहीं समझता और शरीर का, वैभव का, कुल का, जाति को एवं विद्या-बुद्धि आदि का अभिमान करता है। अभिमान मनुष्य के विकास का परम शत्रु है। जिस विषय का अभिमान हुआ कि

उस विषय में उन्नति के द्वार बंद हो गए ! अभिमान से उन्नति का मार्ग किस प्रकार अवरुद्ध हो जाता है, यह देखना हो तो बाहुबलीजी के जीवनचरित की ओर नज़र डालो ! बाहुबली जैसे महान् शक्तिशाली तेजस्वी महापुरुष बारह महीनों तक जंगल में स्थिर आसन से खड़े रहे। शरीर पर बेलें चढ़ गईं और पक्षियों ने घौंसले बना लिए ! कितना सर्दी गर्मी, और वर्षा को परीषह सहन किया ? वास्तव में उनकी तपश्चर्या असाधारण थी; परन्तु उन्हें केवलज्ञान तब तक प्राप्त नहीं हुआ जब तक कि अभिमान रूपी शत्रु उनके पीछे पड़ा रहा ! जब अभिमान दूर हुआ तभी उनका कल्याण हुआ और फिर कल्याण होने में विलम्ब नहीं लगा। इस प्रकार अभिमान उन्नति का बाधक है। अभिमान के चले जाने पर विनम्रता आती है और विनम्रता मनुष्य को ऊँचा चढ़ाती है।

अभिमान को दूर करने और विनम्रता का विकास करने का साधन ज्ञान है। जीव जब तत्त्व के स्वरूप को ठीक-ठीक समझ लेता है, तब अभिमान नष्ट होता है और उसका नाश होते ही नम्रता आती है। इसी कारण प्रत्येक धर्मशास्त्र में ज्ञान की महिमा का बखान किया गया है। कहा है—

ज्ञानं न किं किं कुरुते नराणाम् ?

अर्थात्-कौन-सी ऐसी विशेषता है जो ज्ञान से प्राप्त न हो जाय ?

शास्त्र में तो यहाँ तक लिखा है कि कोई साधु वृद्ध हैं और विशिष्ट विद्वान् हैं-श्रतधर हैं; ऐसा अवसर आ जाय कि उनके जीवन का अन्त सन्निकट जान पड़े और उनका ज्ञान

उन्हीं के पास रह जायगा ऐसी स्थिति हो। तब कोई साधु विचार करे कि मुझे उनसे ज्ञान सीख लेना चाहिए। ऐसा विचार कर वह उनके पास जाना चाहे तो भगवान् ने चौमासे में भी विहार करके ज्ञान सीखने के लिए जाने की आज्ञा दी है। कितनी महत्त्वपूर्ण बात है! ज्ञान की ऐसी अपूर्व महिमा है! वास्तव में ज्ञान आन्तरिक नेत्र है और जब वह खुल जाता है तो मंगल का महान् द्वार खुल जाता है।

भाइयो! ज्ञान की ऐसी अद्भुत महिमा होने पर भी आज कल उसके प्रति खेदजनक उपेक्षा का भाव देखा जाता है। आज गाँव के गाँव में कोई विद्वान् साधु विराजमान होंगे तो लोग यही सोचेंगे कि हमारा सम्प्रदाय न्यारा है और उनका सम्प्रदाय न्यारा है! हम उनके पास ज्ञान सीखने कैसे जाएँ?

पूज्य उदयसागरजी महाराज एक बार कोटा में पधारे। वहीं स्थानक में एक ज्ञानी साधु विराजते थे। पूज्यजी के मन में आई कि इनसे ज्ञान सीखें। अतएव वे स्थानक के द्वार पर खड़े होकर कहते हैं—मुझे ज्ञान सीखना है। पास ही, कहीं दूसरी जगह पधार कर ज्ञान सिखाने की कृपा कीजिए।

वह साधुजी बोले—मुझे अवसर नहीं है!

पूज्यजी दूसरे दिन फिर गये, किन्तु फिर वही उत्तर मिला। इस प्रकार प्रतिदिन फिरते-फिरते ग्यारह दिन हो गए, किन्तु उनकी अभिलाषा पूर्ण न हो सकी। अब बारहवीं बार गए और ज्ञान की भिक्षा माँगी, तब वह साधु बोले—अच्छा, अब ज्ञान सीखो। मैं आपकी जिज्ञासा, उत्कंठा एवं लगन देखना चाहता था—पात्र की परीक्षा करना चाहता था। आप इस परीक्षा में उत्तीर्ण हुए।

इसके पश्चात् उन साधुजी ने उन्हें ज्ञान सिखलाया ! जरा विचार कीजिए, पहले की क्या रचना थी और आज क्या रचना हो गई है ? वे साधुजी स्थानक में ठहरे हुए थे और उनकी प्रवृत्ति जैसी थी वैसी थी। फिर भी उदयसागरजी महाराज जैसे महापुरुष बार बार उनसे ज्ञान सीखने गए !

भाइयो ! वास्तव में ज्ञान की बड़ी महिमा है। इसी कारण भगवान् ने फरमाया है कि—

पढमं नाणं तओ दया ।

अर्थात्—चारित्र या संयम का अनुष्ठान करने से पहले ज्ञान होना चाहिए। जिसे सत्-असत् का ज्ञान नहीं है, जिसकी अन्तरात्मा मिथ्याज्ञान से मलीन हो रही है, वह संयम का भलीभांति पालन नहीं कर सकता। वह श्रेयस्-अश्रेयस् को नहीं समझ सकता। जिसे जीव और अजीव का भी विवेक नहीं है वह साधु की चर्या का पालन किस प्रकार कर सकता है ? कहा भी है—

जो जीवे वि न याणइ, अजीवे वि न याणइ ।
जीवाजीवे अयाणंतो, कहं नाहीइ संजमं ॥

अर्थात्—जो व्यक्ति जीव के स्वरूप को नहीं जानता, जीव की नोना अवस्थाओं और योनियों से परिचित नहीं है, वह अजीव को भी नहीं जान सकता। और जीव तथा अजीव को जाने विना संयम को किस प्रकार जाना जा सकता है ? किस प्रकोर संयम का अनुष्ठान किया जा सकता है ? आखिर जो जानेगा वही छोड़ेगा। जो खुद को नहीं जानता वह खुदा को कैसे जान सकता है ?

जगत् में अनेक प्रकार के साधक दृष्टिगोचर होते हैं। वे अपने को संयमी भी कहते हैं, परन्तु जीव-अजीव का ज्ञान न होने के कारण वनस्पति, अग्नि, जल आदि के जीवों का निरन्तर आरंभ-समारंभ करते रहते हैं। वे निर्दोष अचित्त भोजन के बदले सचित्त कन्द, मूल, फल-फूल आदि का भक्षण करके अनन्तानंत जीवों की विराधना करते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि ऐसा क्यों करते हैं ? उनका उद्देश्य आत्मा का कल्याण करना ही है, फिर वे अकल्याणकारी कार्य क्यों करते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि उनका अज्ञान ही उन्हें विपरीत प्रवृत्ति में नियोजित करता है। उन्हें जीव और अजीव का ज्ञान हो जाय तो वे भी कदाचित् संयम का पालन सकें; क्योंकि कहा है—

जो जीवे वि वियाणाइ, अजीवे वि वियाणाइ।
जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं ॥

अर्थात्-जो जीवों को भी जानता है और अजीवों को भी जानता है, वह जीव-अजीव को जानता हुआ संयम के वास्तविक स्वरूप को जानता है। अभिप्राय यह है कि संयम को समझने के लिए भी जब ज्ञान की आवश्यकता है तो संयम का पालन बिना ज्ञान के किस प्रकार हो सकता है ?

भाइयो ! ज्ञान की इस महत्ता को समझ कर ज्ञान-सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने का उद्यम करो। निरन्तर ज्ञान के अभ्यास में तन्मय रहने वाला मनुष्य उत्कृष्ट रसायन आने पर तीर्थङ्कर गोत्र का भी बंध कर लेता है। ज्ञान की यह महिमा क्या साधारण है।

ज्ञान के अभाव में जीव, अपने भीतर जो विराजमान है उसे भी नहीं समझ पाता। अतएव कम से कम अपने को तो समझो! दूर क्यों भटकते हो? जिन्होंने भगवान् के वचनों का पान किया है, उन्होंने क्या पाया है? उन्होंने अपने आपको पा लिया है! और अपने आपको पा लेना बहुत कुछ पा लेना है। जो आत्मा को पा लेता है उसे परमात्मा को पाने में विलम्ब नहीं लगता है।

जब चिदानन्द को पा लोगे, अपने आपको समझ लोगे तो समझ लो कि चौरासी का चक्कर समाप्त हो गया। अपना स्वरूप समझ लेने पर गंडकड़ा (कुत्ता) और गधेड़ा नहीं बनना पड़ेगा और नरक का मुँह भी नहीं देखना पड़ेगा। जिस दिन अपने को पा लोगे उस दिन सब झगड़े खत्म हो जाएँगे।

आश्चर्य यह है कि लोग दुनिया भर का ज्ञान प्राप्त करने को उद्यत रहते हैं, अर्थशास्त्र सीखते हैं, काव्य, कोष, छन्द और अलंकार पढ़ते हैं, भौतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र और न जाने क्या-क्या पढ़ते, सीखते और जानते हैं, किन्तु इस जानने वाले को-अपने आपको-समझने का प्रयत्न ही नहीं करते! मैं कहता हूँ, तुम भले इतिहास, भूगोल और विविध विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लो, किन्तु जरा ज्ञाता-आत्मा-को ही पहचानने का प्रयत्न करो! आत्मा को जाने बिना समस्त ज्ञान निरर्थक ही नहीं, अनर्थकर भी है। आज के विज्ञान की बदौलत संसार को सुख के बदले दुःख क्यों मिल रहा है? विज्ञान संसार के लिए अभिशाप क्यों साबित हो रहा है? इसीलिए कि वह बहिर्मुख बना हुआ है। उसका मुख

जगत् में अनेक प्रकार के साधक दृष्टिगोचर होते हैं। वे अपने को संयमी भी कहते हैं, परन्तु जीव-अजीव का ज्ञान न होने के कारण वनस्पति, अग्नि, जल आदि के जीवों का निरन्तर आरंभ-समारंभ करते रहते हैं। वे निर्दोष अचित्त भोजन के बदले सचित्त कन्द, मूल, फल-फूल आदि का भक्षण करके अनन्तानंत जीवों की विराधना करते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि ऐसा क्यों करते हैं ? उनका उद्देश्य आत्मा का कल्याण करना ही है, फिर वे अकल्याणकारी कार्य क्यों करते हैं ? इस प्रश्न का उत्तर यही है कि उनका अज्ञान ही उन्हें विपरीत प्रवृत्ति में नियोजित करता है। उन्हें जीव और अजीव का ज्ञान हो जाय तो वे भी कदाचित् संयम का पालन सकें; क्योंकि कहा है—

जो जीवे वि वियाणाइ, अजीवे वि वियाणइ।
जीवाजीवे वियाणंतो, सो हु नाहीइ संजमं॥

अर्थात्-जो जीवों को भी जानता है और अजीवों को भी जानता है, वह जीव-अजीव को जानता हुआ संयम के वास्तविक स्वरूप को जानता है। अभिप्राय यह है कि संयम को समझने के लिए भी जब ज्ञान की आवश्यकता है तो संयम का पालन बिना ज्ञान के किस प्रकार हो सकता है ?

भाइयो ! ज्ञान की इस महत्ता को समझ कर ज्ञान-सम्यज्ञान प्राप्त करने का उद्यम करो। निरन्तर ज्ञान के अभ्यास में तन्मय रहने वाला मनुष्य उत्कृष्ट रसायन आने पर तीर्थङ्कर गोत्र का भी बंध कर लेता है। ज्ञान की यह महिमा क्या साधारण है।

ज्ञान के अभाव में जीव, अपने भीतर जो विराजमान है उसे भी नहीं समझ पाता। अतएव कम से कम अपने को तो समझो! दूर क्यों भटकते हो? जिन्होंने भगवान् के वचनों का पान किया है, उन्होंने क्या पाया है? उन्होंने अपने आपको पा लिया है! और अपने आपको पा लेना बहुत कुछ पा लेना है। जो आत्मा को पा लेता है उसे परमात्मा को पाने में विलम्ब नहीं लगता है।

जब चिदानन्द को पा लोगे, अपने आपको समझ लोगे तो समझ लो कि चौरासी का चक्कर समाप्त हो गया। अपना स्वरूप समझ लेने पर गंडकड़ा ( कुत्ता ) और गधेड़ा नहीं बनना पड़ेगा और नरक का मुँह भी नहीं देखना पड़ेगा। जिस दिन अपने को पा लोगे उस दिन सब झगड़े खत्म हो जाएँगे।

आश्चर्य यह है कि लोग दुनिया भर का ज्ञान प्राप्त करने को उद्यत रहते हैं, अर्थशास्त्र सीखते हैं, काव्य, कोष, छन्द और अलंकार पढ़ते हैं, भौतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र और न जाने क्या-क्या पढ़ते, सीखते और जानते हैं, किन्तु इस जानने वाले को-अपने आपको-समझने का प्रयत्न ही नहीं करते! मैं कहता हूँ, तुम भले इतिहास, भूगोल और विविध विषयों का ज्ञान प्राप्त कर लो, किन्तु जरा ज्ञाता-आत्मा-को ही पहचानने का प्रयत्न करो! आत्मा को जाने बिना समस्त ज्ञान निरर्थक ही नहीं, अनर्थकर भी है। आज के विज्ञान की बदौलत संसार को सुख के बदले दुःख क्यों मिल रहा है? विज्ञान संसार के लिए अभिशाप क्यों साबित हो रहा है? इसीलिए कि वह बहिर्मुख बना हुआ है। उसका मुख

पर-पदार्थों की ओर है, आत्मा की ओर नहीं। वह इस भौतिक आँख के समान है जो दूर-दूर तक दूसरों की ओर देखती है, पर अपनी ओर नहीं देखती। जिस दिन विज्ञान का मुख अपनी ओर हो जायगा, आत्मा को पहचानने की तरफ झुकेगा, उस दिन वह अभिशाप न रह कर वरदान बन जाएगा।

संसार अनादिकाल से है और आत्मा अनादि काल से ही भवभ्रमण कर रहा है। एक-एक योनि में अनन्त-अनन्त वार भटक चुका है और नाना प्रकार की दुस्सह व्यथाएँ भोग चुका है। फिर भी साधारण लोग यह नहीं जानते कि इस स्थिति का असली कारण क्या है? कौन वह शक्ति है जो आत्मा को अपने स्वरूप से भ्रष्ट करके नचा रही है।

ज्ञानी जनों ने बतलाया कि संसार का मूल कारण आस्रव कहलाता है। आस्रव बन्ध का कारण है। आस्रव का निरोध हो जाय तो बन्ध भी रुक जाता है। आस्रव पाँच कारणों से होता है, अतएव वह पाँच प्रकार का कहलाता है। आस्रव के पाँच भेद यह हैं:—(१) मिथ्यात्व (२) अविरति (३) प्रमाद (४ कषाय (५) योग। इन पाँच आस्रवों में से मिथ्यात्व का कुछ विवेचन पहले किया गया है। किन्तु इस विषय पर जितना कहा जाय, उतना ही थोड़ा है। यह आत्मा का सब से बड़ा शत्रु है।

भाइयो! यह आस्रव संसार रूपी विषवृक्ष का मूल है। इसी की बदौलत जगत् के जीवों को कष्ट भुगतने पड़ते हैं। आस्रव ही कर्मों का जनक है। हे मुमुक्षु! अगर तू आत्म-विशुद्धि की कामना करता है तो आस्रव को नष्ट करने का प्रयत्न कर। पाँच आस्रवों में पहला आस्रव मिथ्यात्व है।

मिथ्यात्व मनुष्य की आँखों पर पर्दा डाल देता है और सम्यग्ज्ञान को भी मिथ्याज्ञान के रूप में परिणत कर देता है। बड़े-बड़े विद्वान् भी मिथ्यात्व के चक्कर में पड़े रहते हैं। यह उन्हें भी अपने चंगुल में फाँस लेता है। मिथ्यात्व जीव की दुर्गति करता है।

यह मिथ्यात्व अनन्त चेतना के धनी इस आत्मा को अपने पाश में ऐसा फँसाता है कि मनुष्य होकर भी वह पशुओं से गया-बीता हो जाता है! पागल बन जाता है! मिथ्यात्व के प्रभाव से जीव की मति विपरीत हो जाती है! कोई किसी को स्नान कराने ले गया हो और वहाँ ले जाकर कुए में धक्का दे दे और जिसे धक्का दिया गया है वह बड़ी कठिनाई से बाहर निकले; तो क्या वह दोबारा उसके साथ स्नान करने जाएगा ? कभी नहीं। किन्तु जो चौरासी में डाल रहा है, असंख्य बार मौत के मुँह में भेज रहा है, उसकी आप बार-बार संगति करके भी नहीं अघाते ! यही तो मिथ्यात्व के भूत का प्रभाव है ! वह मति को फेर देता है। जीव समझ कर भी नहीं समझता।

मिथ्यात्व आस्रव के हटते ही जीव सम्यग्दृष्टि हो जाता है। जब तक मिथ्यात्व में रहता है तब तक पहला गुणस्थान ही रहता है। कल्पना करो आपने १२३४५ यह पाँच अंक लिखे। उन्हें पढ़ेंगे तो बारह हजार तीन सौ, पैंतालीस हो गए। समझ लीजिए कि आपके ऊपर इतना ऋण है। अब अगर आप पहले गुणस्थान को लांघ कर चौथे में आ गये तो एकदम दस हजार का एका मिटने से कर्ज कम हो गया। इस प्रकार

एक मिथ्यात्व हट जाएगा तो एकदम दस हजार का कर्जा अदा हो जाएगा।

दूसरा आस्रव अविरति है। मिथ्यात्व के हट जाने पर और जीव के चौथे गुणस्थान में आ जाने पर भी चरित्रमोहनीय की अप्रत्याख्यानावरण चौकड़ी का जब तक उदय रहता है तब तक संयम नहीं हो पाता। संयम न होना ही अविरति कहलाता है।

देवता कितने शक्तिशाली होते हैं ? किन्तु चारित्रमोहनीय का उन पर इतना गहरा प्रभाव है कि वे सर्वविरति तो दूर रही, देशविरति को भी धारण करने में समर्थ नहीं हो पाते। किन्तु मनुष्य के लिए यह बात नहीं है। मनुष्य आध्यात्मिक उत्थान के लिहाज से देवयोनि के जीवों से आगे है। वह पुरुषार्थ करे, जिन वचनों को श्रद्धापूर्वक श्रवण करे, संतसमागम करे तो चारित्रमोहनीय कर्म को भी नष्ट कर सकता है। वह जब अप्रत्याख्यानावरण चौकड़ी को नष्ट कर देता है तो उसे देशविरति की प्राप्ति होती है। उस समय भी अविरति का आस्रव पूरी तरह नहीं टल सकता। जब प्रत्याख्यानावरण चौकड़ी को भी नष्ट करता है, तब सर्वविरति चारित्र को पाता है और उसी समय अविरति आस्रव से पिण्ड छूटता है। इस प्रकार साधु के व्रत अर्थात् सर्वविरति धारण करने पर पूर्वोक्त संख्या में से दो का अंक निकल जाता है और कर्जा घटकर सिर्फ ३४५ रह जाता है !

तीसरा आस्रव प्रमाद है। जिस क्रिया के प्रभाव से जीव हिताहित का विचार करने में उपेक्षा करता है और

जिसके वशीभूत होकर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्-चारित्र रूप मोक्ष मार्ग में उद्यम करने में शिथिल हो जाता है, वह प्रमाद कहलाता है। प्रमाद पाँच प्रकार का है:—

मज्जं विषय कसाया, निद्दा विगहा य पंचमी भणिया।
एए पंच पमाया, जीवं पाडेंति संसारे॥

अर्थात्—(१) मद्य (२) विषय (३) कषाय (४) निद्रा और (५) विकथा, यह पाँच प्रमाद जीव को संसार-परिभ्रमण कराते हैं।

मदिरा तथा मदिरा की जाति के अन्य मादक पदार्थों का सेवन करना मद्यप्रमाद है। गांजा, भंग, चरस, अफीम आदि का सेवन इसी प्रमाद के अन्तर्गत है। मादक द्रव्यों के सेवन से किस प्रकार जीवन नष्ट हो जाता है, किस प्रकार समस्त सद्‌गुणों का विनाश हो जाता है, यह कौन नहीं जानता? अतएव यहाँ उस पर अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।

दूसरा विषयप्रमाद है। पाँच इन्द्रियों के स्पर्श, रस, गंध, रूप एवं शब्द रूप विषयों का सेवन करना विषयप्रमाद कहलाता है। विषय लोलुपता से मनुष्य का पतन हो जाता है। एक-एक इन्द्रिय के अधीन होने वाले हाथी, हिरण आदि पशुओं को भी अपने प्राणों की आहुति देनी पड़ती है तो पाँचों इन्द्रियों के वश में होने वाले मनुष्य की भला क्या दुर्गति नहीं होगी?

भाइयो! आखिर भोग भोगने से कभी तृप्ति नहीं होती।

अग्नि में ईंधन डालते जाने से जैसे वह उत्तरोत्तर बढ़ती ही चली जाती है, उसी प्रकार भोग भोगने से भोग की अभिलाषा शान्त न होकर बढ़ती जाती है। ऐसी दशा में बुद्धिमत्ता का तकाज़ा यही है कि भोगों के प्रति अनुराग का भाव न रक्खा जाय।

जब तक शरीर है और यह जीवन है, तब तक इन्द्रियाँ अपना-अपना काम तो करेंगी ही। आँख सामने आये पदार्थों को देखे बिना नहीं रह सकती और कान बोले हुए शब्दों को सुनेंगे ही। इसी प्रकार अन्य इन्द्रियाँ भी अपने-अपने विषय को ग्रहण करने से रुक नहीं सकतीं। तो फिर विषयों का परित्याग कैसे किया जाय? और किस तरह विषयप्रमाद से बचा जाय? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि विषयपरित्याग का अर्थ यह नहीं है कि आप किसी भी वस्तु का स्पर्श न करें, किसी चीज़ को जीभ से न छूने दें, नाक बंद कर रक्खें, आँखों पर पट्टी बाँध कर रहें और कानों से कोई भी शब्द न सुनें। विषयों के परित्याग का अर्थ यह है कि मनोज्ञ और अमनोज्ञ विषयों में राग-द्वेष धारण न किया जाय। कोमल और सुखद स्पर्श मिलने पर राग न करें और कर्कश एवं दुःखप्रद स्पर्श का संयोग होने पर द्वेष भाव जागृत न होने दें। स्वादिष्ट भोजन मिलने पर हर्ष न माने और नीरस भोजन पाकर नाक-भौंह न सिकोड़ें। सुगंध मिलने पर प्रसन्न न हों और दुर्गंध का योग होने पर अप्रसन्न न हों। सुन्दर और आकर्षक रूप देखकर उसमें गृद्ध न हों और अकान्त-अप्रिय रूप देखकर नाराज़ न हों। मधुर और प्रशंसा के शब्द सुनकर राग न करें और गाली सुन कर विषाद न करें। प्रत्येक अवस्था में समभाव में रमण करना और भले-

बुरे इन्द्रियों में विषम भाव धारण न करना, यही विषयप्रमाद के त्याग का अर्थ है।

भाइयो! मत समझना कि इस प्रकार का समभाव साधुओं के लिए ही है। नहीं, समभाव जैसा साधुओं के लिए आनन्ददायक है, उसी प्रकार गृहस्थों के लिए भी है। समभाव धारण करने से अन्तःकरण में एक प्रकार की अपूर्व मस्ती आ जाती है और एक ऐसे सुख का स्रोत फूट निकलता है, जिसे शब्दों द्वारा व्यक्त करना संभव नहीं है। समभाव से आपका परलोक तो सुधरेगा ही, इह लोक भी सुधर जाएगा। इसलिए इन्द्रियों के विषयों में समभाव धारण करने का अभ्यास करो।

कई लोगों का मिजाज इतना नाजुक होता है कि भोजन बनने में कुछ थोड़ी-सी भी कसर रह गई तो आग बबूला हो जाते हैं। शाक में नमक कम रह गया तो त्यौरियाँ चढ़ गई! मसाला कम पड़ गया तो थाली उठाकर फैंक दें! इस प्रकार की आदत उन्हें परेशान करने वाली है, सुखी बनाने वाली नहीं। समभाव का अभ्यास करने वाला व्यक्ति थाली में परोसे गये नीरस या सरस आहार को समान भाव से ग्रहण करता है और ऐसा भोजन उसके लिए अमृतमय परिणमता है। तात्पर्य यह है कि जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में समभाव धारण करने से विषयप्रमाद से बचाव हो सकता है।

तीसरा कषाय प्रमाद है। कषाय आत्मा का प्रबल शत्रु है। अतएव इसे पाँच आस्रवों में अलग ही गिना गया है। इसके संबंध में आगे विचार करेंगे।

सोने की क्रिया निद्राप्रमाद कहलाती है। यद्यपि शरीर

की रक्षा के लिए और थकावट को मिटाने के लिए निद्रा का सर्वथा त्याग नहीं किया जा सकता, किन्तु अनावश्यक का त्याग तो करना ही चाहिए। कई लोग प्रातःकाल आठ वजे तक बिस्तर पर पड़े रहते हैं। यह अनावश्यक सोना है। प्रातःकाल धर्म क्रिया करने का उत्तम अवसर है। परन्तु ऐसे प्रमादी पुरुष उसे व्यर्थ सोने में व्यतीत कर देते हैं। भगवान् ने ब्राह्ममुहूर्त्त में षडावश्यक क्रिया करने का विधान किया है, परन्तु उस समय में खर्राटे लेने वाले किस प्रकार इस विधान का पालन कर सकते हैं ? असमय में सोने से शरीर के स्वास्थ्य को भी हानि पहुँचती है और आत्मा की स्वस्थता भी नष्ट होती है। अतएव अनावश्यक निद्रा का त्याग करना ही उचित है।

पाँचवां प्रमाद विकथा है। स्त्री आदि के विषय में निरर्थक बातें करना विकथा कहलाता है। विकथा चार प्रकार की है—स्त्रीकथा, भोजनकथा, देशकथा और राजकथा। इन सब के संबंध में व्यर्थ बातें करना, गप्पे मारना और समय को नष्ट करना इसी प्रमाद के अन्तर्गत है।

भगवान् ने एक समय भी प्रमाद में व्यतीत न करने की चेतावनी दी है। गौतम स्वामी को संबोधन करके सभी को आदेश दिया है कि—

समयं गोयम ! मा पमायए।

अर्थात्—हे गौतम ! एक पल भर भी प्रमाद न करो।

इस विषय में गहराई से विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि काल के सूक्ष्मतम अंश 'समय' का भी जीवन में

कितना अधिक महत्त्व है! वास्तव में एक समय-मात्र का प्रमाद भी जीव को अत्यन्त दुःखदायी हो जाता है। एक समय में ही जीव अनन्तानन्त कर्म पुद्गलों को ग्रहण कर लेता है। अगले भव की आयु इस भव में कब बँधती है, यह हम लोगों को मालूम नहीं होता। मान लो कि हम थोड़ी देर के लिए प्रमाद के वशीभूत हुए और उसी समय आयु का बंध हो गया तो कितना अनर्थ हो जाएगा ? कितने लम्बे समय तक उस प्रमाद का फल भोगना पड़ेगा ! कदाचित् नरक की आयु का बन्ध हो जाय तो उत्कृष्ट तेतीस सागरोपम तक एक समय का प्रमाद घोर यातनाओं का निमित्त बन सकता है! इसलिए भाइयो! प्रमाद का परित्याग करके आत्महित में लगो। जीवन का एक-एक क्षण अनमोल है। कवि ने यथार्थ ही कहा है—

जौ लौं देह तेरी काहू रोग सों न घेरी,
जौ लौं जरा नाहिं नेरी जासौं पराधीन परि है।
जौ लौं जम नामा वैरी देय न दमामा,
जौ लौं माने कान रामा बुद्धि जाइ न बिगरि है।
तौ लौं मित्र! मेरे निज कारज सँवार लै रे,
पौरुष थकेंगे फेर पीछे कहा करि है ?
अहो आग आएँ जब झौंपरी जरन लागी,
कुआ के खुदाएँ तब कौन काज सरि है ?

जब तक शरीर बीमारियों से ग्रस्त नहीं होता, बुढ़ापा नज़दीक नहीं आता, जब तक यमराज अपने नगाड़े नहीं बजाता, जब तक बुद्धि सठिया नहीं गई है, तब तक अपना काम सँवार

ले। बुढ़ापा आने पर पुरुषार्थ थक जायगा; फिर आत्मकल्याण नहीं कर सकेगा। जब झौंपड़ी में आग लग जाय और झौंपड़ी जलने लगे, उस समय तू कुआ खुदवाने बैठेगा तो क्या प्रयोजन सिद्ध होगा ? समझदार और होशियार आदमी ऐसा नहीं करते। वे तो पानी आने से पहले ही पाल बाँध लेते हैं। तू बुढ़ापा आने से पहले ही परलोक का सामान जुटा ले; फिर जुटाना कठिन हो जायगा। प्रमाद में यह महत्त्वपूर्ण समय नष्ट मत कर।

ऐसा समझ कर जो प्रमाद का परित्याग कर देते हैं वे सातवें गुण स्थान में पहुँच जाते हैं और पूर्वोक्त संख्या में से उनके लिए तीन का भी अंक निकल जाता है। अर्थात् ३४५ में से सिर्फ ४५ का ही कर्ज रह जाता है।

कल्पना कीजिए, एक बालक पाठशाला में पढ़ने जाता है। शिक्षक उसको क, ख, ग, घ, ङ सिखलाता है। इतना ठोठ और लापरवाह है कि उसे पाठशाला में जाते-जाते दो साल हो गए, किन्तु जब कभी शिक्षक पूछता है कि पाठ याद हो गया ? तो वह यही उत्तर देता है कि अभी तो याद नहीं हुआ—कच्चा है ! अब आप बतलाइए कि ऐसे लड़के को शिक्षक स्कूल में रक्खेगा ? क्या वह लड़का ऊँची शिक्षा प्राप्त करके अपने जीवन का विकास कर सकेगा ? मगर आप लड़के की बात छोड़ कर अपने संबंध में ही विचार कीजिए। आप क, ख, ग, घ ही याद करते रहोगे कि आगे भी बढ़ोगे ? याद रखना, क, ख में ही बने रहे तो चौरासी में ही रुलते रहोगे ! इन बहिनों की ४०-५०-६० वर्ष की उम्र हो गई है, फिर भी क्रोध, मान, मायाचार आदि कम नहीं किये हैं ! जब जानते हो कि उम्र दिनों दिन कम होती जाती है तो आत्मा के

विकारों को भी कम करना चाहिए, पापों से निवृत्ति करनी चाहिए ! किन्तु जब देखो तभी 'धुर मोची के धुर मोची' ही बने रहते हो ! हमेशा क, ख, ग, ही सीखते रहते हो ! कभी सोचा है कि आज यह धर्माचरण किया है तो कल इससे आगे क्या तरक्की करेंगे ? कभी तरक्की की बात नहीं सोचते ! थोड़ा-थोड़ा आगे बढ़ो, रोज दो क़दम चलो तो भी कभी अहमदाबाद पहुँच सकते हो ! मगर आपका तो वही का वही रङ्ग-ढङ्ग है। वीतराग की वाणी सुन कर तो खान, पान, रहन-सहन, चाल-चलन आदि सभी प्रवृत्तियाँ बदल जानी चाहिए। दूसरी ही रंगत आ जानी चाहिए !

भाइयो ! कागज़ के फूल कितने ही सुन्दर क्यों न बनाओ, उन पर भौंरे नहीं मँडराते। उनमें तुम्हारे समान बुद्धि नहीं है, फिर भी वे समझते हैं कि यह कागज़ के नकली फूल हैं ! कपड़े का हरे रंग का हूबहू तोता बनाया जाय कि जिसे देखकर मनुष्य चक्कर में पड़ जाय, किन्तु क्या बिल्ली उस पर झपटती है ? नहीं, क्यों कि वह जानती है कि यह नकली है ! पत्थर के शेर के पास से कुत्ता निर्भीक होकर निकल जाता है, डरता नहीं है। वह अच्छी तरह समझता है कि यह नकली शेर मेरा क्या बिगाड़ सकता है ? जब जानवर भी इतना जान जाते हैं तब तू तो मनुष्य है ! तू मनुष्य होकर अपने आपको भी नहीं समझता और इधर-उधर भटकता फिरता है ! क्या मनुष्य कुत्ते और बिल्ली से भी गया-बीता है ? मैं आपके कोट, धोती, पगड़ी, अंगरखी या दाढ़ी-मूँछ से नहीं कह रहा हूँ; बहिनों के गोखरू से नहीं कहता हूँ; मेरी बातें तो अंदर वाले से हो रही हैं ! आपने छाछ ही छाछ पीई है, अब मक्खन चखा रहा हूँ। याद रक्खो, जो मनुष्य जन्म तीर्थंकर, चक्रवर्ती, वासु-

देव और बलदेव को मिला है, वही भाग्ययोग से तुमको भी मिल गया है। करोड़ों रुपया खर्च करके भी मनुष्य की जिंदगी नहीं मिल सकती! अतएव इसे पाकर प्रमाद न करो। इस उत्तम जीवन का अप्रमत्त भाव से सदुपयोग करो जहाँ तक प्रमाद रहेगा, तुम अपने आपको नहीं पहचान सकोगे।

चौथा आस्रव कषाय है। कषाय संसार की वृद्धि करने वाला है। क्रोध, मान, माया और लोभ, यह चार कषाय हैं। इन्हें राग और द्वेष भी कहते हैं। क्रोध और मान द्वेष में तथा माया और लोभ राग में अन्तर्गत हैं। तो चाहे कषाय कहो, चाहे राग-द्वेष कहो, यह आत्मा के स्वरूप को विकृत करने वाले हैं। इन कषायों के संबंध में अभी अधिक कहने की आवश्यकता नहीं है।

भाइयो! कषाय भवभ्रमण का प्रधान कारण है। कषाय के निमित्त से ही बंधने वाले कर्मों में स्थिति और अनुभाग शक्ति उत्पन्न होती है। कषाय ही कर्मों में फल देने की शक्ति उत्पन्न करते हैं। जब कषायों का सर्वथा क्षय हो जाता है तब योग के निमित्त से आस्रव होता है, किन्तु वह आस्रव विशेष बाधक नहीं होता। उस समय कर्म आते हैं और प्रदेशोदय में से गुजर कर जीर्ण हो जाते हैं। वे ठहर नहीं सकते, क्योंकि ठहराने वाला कषाय है और वह रह नहीं जाता है। कषाय का पूर्ण क्षय होते ही आत्मा वीतराग दशा प्राप्त करके बारहवें गुणस्थान पर पहुंच जाती है और फिर कभी उसका प्रतिपात नहीं होता! एक ही अन्तर्मुहूर्त्त में तेरहवाँ गुणस्थान पाकर वह सर्वज्ञ और सर्वदर्शी पद को प्राप्त कर लेती है। इस सैद्धान्तिक प्ररूपणा का सार यही है कि कषाय आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूप में नहीं आने देते।

इस प्रकार जब कषाय आस्रव भी नष्ट हो जाता है तो ४५ की संख्या में से चार का अंक भी निकल जाता है और सिर्फ ५ ही शेष रह जाते हैं। बारह हजार तीन सौ पैंतालीस में से पाँच रुपये का ही कर्ज रह जाना न रह जाने के ही समान है !

इसके बाद चौदहवें गुणस्थान में जब आरोहण होता है तो योग का भी निरोध हो जाता है। मन, वचन, काय के निमित से आत्मा के प्रदेशों में एक प्रकार की चंचलता बनी रहती है। उसी चंचलता को योग कहते हैं। चौदहवें गुणस्थान में योग के सर्वथा निरुद्ध हो जाने से आत्मा शैल-शृंग के समान निश्चल बन जाती है। बस, उस समय पाँचवा आस्रव भी बन्द हो जाता है। यह स्थिति थोड़ी ही देर रहती है। अ, इ, उ, ऋ और लृ इन पाँच ह्रस्व स्वरों को मध्यम रूप से उच्चारण करने में जितना काल लगता है, उतने काल तक चौदहवें गुणस्थान में ठहर कर अशरीर-अवस्था प्राप्त करती है और फिर ज्योति में ज्योति मिल जाती है।

मुक्त जीव लोक के अग्रभाग में विराजमान होते हैं। प्रश्न हो सकता है कि मुक्तात्मा को ऊपर कौन ले जाता है ? इसका उत्तर यह है कि आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगमन करने का ही है। जैसे हवा का स्वभाव तिर्छा चलना है, उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव ऊपर जाने का है। जैसे अग्नि की शिखा स्वभावतः ऊपर की ओर जाती है, वैसे ही मुक्तात्मा भी ऊपर जाती है।

मान लीजिए, किसी तूंबे पर आठ बार चिकनी मिट्टी का लेप कर दिया जाय और उसे पानी में छोड़ दिया जाय तो

वह लेप से भारी होने के कारण नीचे चला जायगा। मगर धीरे-धीरे जल के संयोग से जब मिट्टी गल कर तूंबे से अलग हो जायगी, तब तूंबा निर्लेप होकर हल्का हो जायगा और हल्का होते ही वह पानी के ऊपर आ जाएगा। इसी प्रकार आत्मा अष्टविध कर्मों के लेप के कारण भारी होकर ऊपर नहीं जाता; किन्तु जब कर्म हट जाते हैं तब वह हल्का हो जाता है और लोक के अग्र भाग तक चला जाता है। आगे गतिसहायक धर्मास्तिकाय द्रव्य न होने के कारण उसकी गति रुक जाती है।

सारांश यह है कि संसार-परिभ्रमण का मूल कारण आस्रव है और आस्रव का प्रथम कारण मिथ्यात्व या अज्ञान है। अगर मनुष्य चाहता है कि उसके जन्म-मरण की अनादि-कालीन परम्परा का विराम हो और वह संसार के विविध संतापों से छुटकारा पाकर अपने परमात्मस्वरूप को प्राप्त करे तो उसे आस्रव का निरोध करना चाहिए और आस्रव का निरोध करने के लिए अज्ञान एवं मिथ्यात्व का परित्याग करना चाहिए। यही मानवजीवन की सार्थकता है। यही संयम का उद्देश्य है और इसीलिए भगवान् ने देशना दी है। भगवान् की इस देशना का जो अनुसरण करेगा, उसे आनन्द ही आनन्द प्राप्त होगा।

३०-१२-४८ }
पाली }
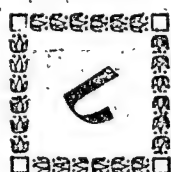
# समताभाव
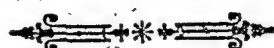
स्तुतिः—

सिंहासने मणिमयूखशिखाविचित्रे,
विभ्राजते तव वपुः कनकावदातम् ।
विम्बं वियद्विलसदंशुलतावितानं,
तुङ्गोदयाद्रिशिरसीव सहस्ररश्मेः ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं–हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन्! कहाँ तक आपकी स्तुति की जाय? हे प्रभो! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ?

जब भगवान् ऋषभदेव इस धरातल पर विचरण कर रहे थे, तब देवतागण मणिरत्नों से जटित अतीव मनोरम सिंहासन आकाश में लेकर चलते थे। उस सिंहासन में जो विविध वर्ण की मणियाँ जड़ी थीं, उनकी किरणों से वह झिलमिल–झिलमिल

हो रहा था। ऐसे सिंहासन पर प्रभु का स्वर्ण-वर्ण का शरीर इस प्रकार सुशोभित होता था, जैसे प्रचुर किरणों से समन्वित सूर्य का बिम्ब, ऊँचे उदयाचल पर्वत पर सुशोभित होता है। अर्थात् प्रभु आदिनाथ का शरीर उस सुरनिर्मित सिंहासन पर इतना भला दिखाई पड़ता था, जैसे उदयाचल पर बालसूर्य दृष्टिगोचर होता है !

भगवान् आदिनाथ इस अवसर्पिणी काल में आद्य धर्म-तीर्थङ्कर हुए हैं। वह धर्मतीर्थङ्कर ही नहीं, एक महान् आद्य समाज व्यवस्थापक भी थे। उन्होंने राज्य शासन की नींव डाली, समस्त सामाजिक व्यवस्थाओं को जन्म दिया, लिपि, नाना विद्याओं, कृषि, व्यापार आदि जीवन के साधनों की भी शिक्षा दी। उन्हीं के परम अनुग्रह से आज मानवजाति पशुओं से ऊँची कहलाती है। मानव जगत् पर ऋषभदेव भगवान् का असीम उपकार है। वे प्रथम जगद्गुरु, जगत्पिता, जगद्बन्धु और प्रथम धर्मप्रवर्त्तक हैं। मनुष्य इधर-उधर भटकता हुआ भी, मुख्यतः उन्हीं के प्रदर्शित पथ पर चल कर अपने जीवन की विशिष्टता को स्थिर रक्खे हुए है।

भगवान् ऋषभदेव का वर्णन भागवत के पाँचवें स्कन्ध में भी आया है। यही नहीं, मुसलमानों के कुरान के पहले पारा में बाबा आदम के नाम से इनका जिक्र किया गया है। इस प्रकार भगवान् आदिनाथ सर्वमान्य लोकोत्तर पुरुष हैं। ऐसे भगवान् ऋषभदेव को हमारा बार-बार नमस्कार हो।

भाइयो ! अन्यान्य तीर्थंकरों का उल्लेख तो प्रायः जैन-शास्त्रों में ही मिलता है; दूसरे शास्त्रों में क्वचित् ही किसी-किसी का उल्लेख है, किन्तु ऋषभदेव का उल्लेख जैनेतर ग्रन्थों में भी

बड़े सुन्दर रूप में मिलता है। शीतलनाथ भगवान् के समय तक ब्राह्मण लोग भी भगवान् ऋषभदेव का नाम लिये बिना भोजन नहीं करते थे। माता मरुदेवी ने भी कैसे विलक्षण पुत्र-रत्न को जन्म दिया! जिन्होंने समग्र संसार को सत्यमार्ग दिखलाया और सत्य के मार्ग पर आने का आह्वान किया! उन्होंने बतलाया कि जहाँ तक अपने आपको नहीं पहचाना वहाँ तक कैसे समझा जाय सयाना? खुद को न समझने वाला खुदा को नहीं समझ सकता; क्यों कि खुद और खुदा का रूप एक ही है। अतएव खुदा को पहचानने का मार्ग खुद को पहचानना है। खुद को पहचानने का प्रयत्न करना चाहिए। मैं कौन हूँ? क्या हूँ? कैसा हूँ? कहाँ से आया हूँ? कहाँ जाऊँगा? क्यों आया हूँ? क्यों जाऊँगा? इस आने-जाने का कारण क्या है? इसका अन्त कब और कैसे आएगा? जब अन्त आएगा तब क्या स्थिति होगी? इत्यादि प्रश्नों पर विचार करना चाहिए और अपने आपको समझना चाहिए। श्रीमदाचारांगसूत्र में, पहले-पहल यही वर्णन किया गया है। वहाँ भगवान् फर्माते हैं:-

'इहमेगेसिं णो सण्णा भवइ, तंजहा-पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पच्चत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, अहोदिसाओ वा आगओ अहमंसि।' आदि।

अर्थात्—संसार में किन्हीं प्राणियों को यह संज्ञा नहीं होती कि मैं पूर्व दिशा से आया हूँ, दक्षिण दिशा से आया हूं,

पश्चिम दिशा से आया हूँ या उत्तर दिशा से आया हूँ ? अथवा ऊर्ध्व दिशा से आया हूं या अधोदिशा से आया हूँ ?

इस प्रकार आत्मज्ञान से शून्य जीव अनादि काल से आवागमन कर रहा है। वह अनन्तानन्त जन्म-मरण कर चुका है, किन्तु उसके जन्मों और मरणों का कोई मूल्य नहीं हुआ। यह जन्म-मरण व्यर्थ ही साबित हुए। इनसे आत्मा के किसी भी प्रयोजन की सिद्धि नहीं हो सकी। हे जीव ! निगोद-पर्याय में जाकर तू ने एक-एक श्वासोच्छ्वास में ही अठारह बार जन्म-मरण किये हैं। वे जन्म-मरण किस गिनती में आये ?

भाइयो ! यह तो आपको विदित ही है कि वनस्पतिकाय सचित्त है। आज तो वनस्पति की सजीवता विज्ञानसम्मत होने से सर्वसम्मत हो चुकी है; किन्तु जब विज्ञानवेत्ताओं को पता नहीं था कि वनस्पति में भी उसी प्रकार जीव विद्यमान है, जैसा कि हमारे शरीर में है; तब भी जैनशास्त्र स्पष्ट रूप से उसकी सजीवता की घोषणा करते थे। आज भी जैनशास्त्रों में वनस्पति के जीवों का जितना सूक्ष्म, गंभीर और सांगोपांग वर्णन मिलता है उतना वैज्ञानिकों को पता नहीं है। प्रत्येक सचित्त वनस्पति में जीव है। छोटे बेरों में भी वही सच्चिदानन्द विराजमान है। पर एक पैसे में कितने बेर आ जाते हैं ? जितने बेर आते हैं, उतने ही जीव आ जाते हैं। पैसे को जाने दो, एक कौड़ी में भी कितने आ जाते हैं ? इनका जन्म एक कौड़ी के बराबर भी मूल्य नहीं रखता। किसी ने कहा है:—

लख चौरासी योनि में, भमियो अनंति बार।
कौड़ी साठे बिक गयो, थारी गिनती नहीं लगार ॥

हो मारी मानो मानो, मानो मानोजी ॥ टेक ॥

ओह! यह जीव कितना अहंकार करता है! हमें यों कह दिया! हमको कुछ भी नहीं समझा! हम कौन हैं? आदि-आदि विचार करता है और अहंकार का मारा आकाश में सिर ऊँचा उठाता है! अपने आगे दूसरों को तुच्छ, नगण्य और अपदार्थ समझता है और अपने को सभी कुछ समझता है। किन्तु अरे जीव! क्यों मिज़ाज करता है? जब तूने बेर की गुठली में जन्म लिया था तो तेरी क्या कीमत थी! लोगों ने कौड़ी में खरीदा और खाकर थूंक दिया था! फिर रास्ते में पड़ा-पड़ा आने जाने वालों की लातें खाता रहा! उस समय क्या इज्ज़त थी तेरी? एक बार नहीं, हजार बार भी नहीं, अनन्त बार ऐसी स्थिति में तू रह चुका है। इससे भी बुरी सैकड़ों अवस्थाएँ तूने धारण की हैं। और आज जब पुण्य का किंचित् उदय हुआ है तो अभिमान करने बैठा है! तेरे अभिमान का क्या मूल्य है? अभिमान करेगा तो याद रखना, फिर वैसी ही तुच्छ योनियों में जन्म लेना पड़ेगा!

बड़े बड़े चक्रवर्ती राजा और विशाल साम्राज्य के अधीश्वर जब भगवान् की वाणी को श्रवण कर लेते थे और अपने आपको पहचान लेते थे तो चौदह रत्नों, नव निधियों, सहस्रों रानियों और अतुल वैभव को नाक के मैल के समान उपेक्षा पूर्वक त्याग देते थे और फिर आँख उठा कर भी उसकी ओर नहीं देखते थे! कहो, चक्रवर्ती कितना पुण्य लेकर आते हैं? उनके समान पुण्य का उदय अन्य किसी मनुष्य में संभव नहीं है, किन्तु वीतराग के वचन सुनने के पश्चात् उन्हें सारी सम्पदा तुच्छ और दुःख का मूल नजर आने लगती थी। आज

आप एक साधारण दुपट्टे से भी ममता नहीं उतार सकते ! व्याख्यान सुनने आये और कदाचित् पुराने जूते भी चोरी चले गये तो व्याख्यान में आना ही छोड़ देते हो ! आपको इतनी-सी ममता त्यागना भी मुश्किल हो रहा है !

एक जगह पूज्य श्रीलालजी महाराज धर्मोपदेश दे रहे थे। उस समय एक बाई का जेवर चला गया तो वह गड़बड़ और होहल्ला मचाने लगी। तब पास में बैठी हुई दूसरी बाई ने पूछा—क्या हुआ ? क्यों हल्ला-गुल्ला मचा रही हो ? उसने कहा—मेरा तो सोने का जेवर चला गया ! यह सुन उस बाई ने अपना सोने का जेवर उतार कर उसे दे दिया और कहा-'लो बहिन' पर हल्ला न करो। वीतराग की वाणी की सुधा का पान करने दो, तुम भी शान्त होकर सुनो !'

अहा ! कितनी श्रद्धा ! कैसी भक्ति ! प्रभु की वाणी के प्रति कितनी अनुरक्ति है ! उसने किस प्रकार ममता उतार कर समता धारण की !

भाइयो ! समता धारण करना बहुत कठिन है। घर पर दो मेहमान ज्यादा आ जाते हैं तो भी समता नहीं रहती ! मगर समता प्राप्त करने का मार्ग वीतराग देव की वाणी को श्रवण करना है। जिसने श्रद्धापूर्वक जिनवचनों का श्रवण किया है उसने संसार के भोगों को मैल के समान समझ कर त्याग दिया ! मगर यह तभी संभव है जब श्रवण के साथ मनन भी हो, चिन्तन भी हो और जीवन के उत्थान की कामना भी हो ! यह सब हो तो संसार के उत्तम से उत्तम भोगोपभोग भी अशुचि के समान घृणास्पद ही जान पड़ते हैं। मगर जब तक यह स्थिति नहीं आती तब तक जीव की कौड़ी के बराबर भी कीमत नहीं

होती। अनन्त बार जन्म-मरण करने का कोई मूल्य नहीं मिला। हाँ, जब समतामयी भावना आती है, तभी जन्म का मूल्य मिलता है, तभी उस जन्म की गिनती होती है। फिर वहाँ अभिमान का भी क्या काम है ? जिनको हजारों राजा हाथ जोड़ते थे वह जब मुनिराज बन कर जंगल में ध्यान धारण करते हैं या पुराने खण्डहर में खड़े होकर आत्मा में तन्मय हो जाते हैं और उन चक्रवर्त्ती मुनिराज के पास रात्रि में पुलिस के सिपाही आते हैं और कहते हैं-कौन है ?

मुनिराज शान्त और मौन रहते हैं !

सिपाही अपनी कर्कश ध्वनि में कहता है—अरे बोलता नहीं ! तू कौन है ? बता, किसलिए तू यहाँ खड़ा है ?

मुनिराज फिर भी चुप ! वे अपने ध्यान में मग्न हैं !

पुलिस का सन्देह बढ़ जाता है। वह उन्हें पकड़ती है, पीटती है और गिरफ्तार करके हवालात में बंद कर देती है। मगर वे फिर भी शान्त और मौन रहते हैं। ध्यान में लीन हैं ! उन्हें कोई शिकायत नहीं, अपने बचाव की कोई चिन्ता नहीं। गिरफ्तार हो जाने का कुछ भी विषाद नहीं। जैसे खण्डहर में थे वैसे ही हवालात में खड़े हैं।

भाइयो ! केवलज्ञान क्या मुफ्त में मिल जाता है ? पाली के पंसारी की दुकान पर मोल बिकता है कि पैसे देकर ले लोगे ? नहीं, केवलज्ञान प्राप्त करने के लिए बड़ी दारुण तपस्या करनी पड़ती है, उग्र साधना करनी पड़ती है और कठोर से कठोर कष्ट झेलने पड़ते हैं ! भगवान् महावीर जैसे सर्वोत्कृष्ट पुण्य-पुरुष को भी कितनी यातनाएँ सहनी पड़ी थीं ? बारह वर्ष से

भी अधिक समय तक घोर अतिघोर संकटों के सागर पार करने पड़े थे। तब कहीं उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ था!

हाँ, उन मुनिराज को प्रातःकाल होने पर पुलिस का कोतवाल राजा की कचहरी में ले गया। राजा ने ज्यों ही उन्हें देखा, पहचान लिया और उसी समय चरणों में गिर कर कहा—मैं तो आपका सेवक हूं! आप हमारे स्वामी हैं! आप छत्र-धारी महाराजाधिराज हैं! भगवन्! हमारी धृष्टता के लिए क्षमा कीजिए!

और फिर राजा ने कोतवाल की ओर उन्मुख होकर कहा—अरे दुष्ट! बेअक्ल कोतवाल! उन पूजनीय महात्मा को क्यों पकड़ लाया है? तुझे लुच्चों-लफंगों को पकड़ने के लिए नियुक्त किया है अथवा सन्तों को परेशान करने के लिए? तू अपराधी है और तुझे तेरे अपराध की सज़ा मिलेगी।

यह सुनकर मुनिराज का मौन भंग हुआ। बोले-राजन्! इसे कष्ट मत देना। इसका कोई अपराध नहीं है। उत्तर माँगने पर भी उत्तर न देने वाले को पकड़ लेना पुलिस का नियोग है-यह इसकी ड्यूटी है। इसने पूछा—कौन है? मैं ने उत्तर नहीं दिया। हो सकता है तो मेरा ही अपराध हो सकता है!

कैसा अपूर्व समभाव है! कितनी दयालुता है! अपने ऊपर आये कष्ट के समय तो मौन भंग नहीं हुआ, पर दूसरे पर कष्ट आने की संभावना मात्र से मुनि ने मौन भंग कर दिया! इसे कहते हैं करुणा!

जब तक इस प्रकार की समता और सहिष्णुता नहीं आती तब तक कैवल्यदशा भी नहीं आती। यह वीतराग का

मार्ग है। इस मार्ग पर न चलने के कारण अनन्त काल हो गया जन्म-मरण करते-करते ! 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणम्' का चक्कर अनादि काल से चला आ रहा है। इसका अभी तक अन्त नहीं आया ! अब तक के अनन्तानन्त भव खोगीर की भर्त्ती ही साबित हुए। खोगीर में फटे-पुराने और सड़े-गले चींथड़े भरे जाते हैं; वे निरुपयोगी समझे जाते हैं, उसी प्रकार जीव के यह जन्म निरर्थक ही हुए।

फिर भी आज मनुष्य मान-गुमान करता है ! अरे जीव ! समझ, जरा विचार कर और सोच कि तू कौन है, कहाँ से आया है और कहाँ जाएगा ? यह परमार्थ को विचार न करके अपने शरीर का अभिमान करता है, अपनी ऋद्धि पर इतराता है, अपने महल का मद करता है और परिवार के गर्व में चूर रहता है !

हाथी पहाड़ को देख कर ईर्षा की आग में जलने लगता है। वह सोचता है-मैं सबसे बड़ा हूँ, पर यह पहाड़ मुझसे भी ऊँचा क्यों है ? इसे अभी तोड़ कर ज़मीन में मिला देता हूँ !

हाथी गुस्से में आकर पहाड़ की ओर दौड़ता है और अपने दन्तशूलों से पहाड़ को खोदने का प्रयत्न करता है। मगर पहाड़ का तो कुछ बिगड़ता नहीं, उसी के दांत टूट जाते हैं ! सारा गर्व खर्व हो जाता है और लेने के देने पड़ जाते हैं।

इसी प्रकार लोग किसी बात में दूसरे को बड़ा समझकर सोचते हैं-यह मुझसे अधिक धनवान् क्यों है ? बुद्धिमान् क्यों है ? इसे मुझसे ज्यादा मान-सन्मान क्यों मिलने लगा ? परन्तु इस प्रकार की विचारधारा होना अज्ञानता है। अगर किसी में

कोई विशेष सद्गुण है तो उसे देख कर प्रसन्न होना ज्ञानियों का लक्षण है। विवेकवान् व्यक्ति जब गुणी पुरुष को देखता है तो यही सोचता है कि यह पुण्यशील पुरुष है। इसने पूर्वभव में दान-पुण्य किया है, इसलिए इसे धन-वैभव और मानमर्यादा मिली है। जो जैसा करता है, वैसा ही भोगता है। ज्ञानी पुरुष को देखकर विवेकी पुरुष सोचता है-इसने पूर्वभव में ज्ञान की भक्तिपूर्वक आराधना करके ज्ञानावरणकर्म का क्षयोपशम प्राप्त किया है, विद्वानों के प्रति विनयपूर्ण व्यवहार किया होगा, ज्ञान के उपकरण शास्त्रों और ग्रंथों का दान दिया होगा, विद्या की उन्नति में योग दिया होगा, विद्यावानों की सेवा की होगी और विद्वानों की सराहना की होगी, इस के फलस्वरूप आज यह विद्वान् बना है। मैं इसके प्रति ईर्षा क्यों धारण करूँ ? धनी या विद्वान् से द्वेष करने पर धन और विद्या की प्रप्ति में बाधा पड़ती है।

सारांश यह है कि जीवन में किसी प्रकार की महत्ता प्राप्त करने के लिए यथोचित प्रयत्न करना चाहिए। अभिमान या ईर्षा करने से कोई महत्ता प्राप्त नहीं होती। जब तीर्थंकर जैसे महापुरुषों को भी महत्ता प्राप्त करने के लिए कष्ट उठाने पड़ते हैं तो तुम विना कष्ट उठाये कैसे महत्ता प्राप्त कर लोगे ?

भगवान् महावीर ने दीक्षा धारण की और जंगल में जाकर ध्यान लगाया। उधर से कुछ गुवाल जानवरों को लेकर आये। उस समय भगवान् छद्मस्थ अवस्था में थे। उन्हें देख-कर गुवालों ने सोचा—यह खड़ा है और हमारे पशुओं का ध्यान रख लेगा। कह गये—देखना, जरा ध्यान रखना इन पशुओं का, हम थोड़ी देर में लौट कर आते हैं !

भगवान् ध्यान में लीन थे और लीन ही रहे। उन्होंने हाँ-ना कुछ भी नहीं कहा। गुवाल चले गये और जब लौटकर आये तो पशु वहाँ नहीं थे। उन्होंने सोचा—यह कोई चोर है, उचक्का है! इसी ने पशुओं को इधर-उधर कर दिया है! वे भगवान् को डाटने-फटकारने लगे और रस्सियों से पीटने लगे। बीच-बीच में कहते–ओ पाखंडी धूर्त! हमारे पशु बता! चुप्पी क्यों साधे है? मगर महावीर मानों देह में रहते हुए भी देह से अलग विचर रहे थे। मौन भाव से खड़े थे। उन्हें गुवालों के व्यवहार से कोई सरोकार नहीं था!

संयोगवश उसी समय शक्रेन्द्र महाराज ने अवधिज्ञान से जाना कि सिद्धार्थ राजा के राजकुमार इतना वैभव त्याग कर तो तपस्या कर रहे हैं और यह अज्ञानी उन्हें कष्ट पहुँचा रहे हैं। वह उसी समय दौड़े-दौड़े आये और गुवालों से बोले—अरे पापियों! यह क्या कर रहे हो? जानते हो यह कौन हैं? यह भगवान् सिद्धार्थ राजा के दुलारे, और ज्ञातवंश के उजियारे हैं! यह तीन लोक के नाथ प्रभु वर्द्धमान हैं! तुम इनको यातना दे रहे हो? अरे, क्यों अपने सौभाग्य में मेख ठोकते हो?

इन्द्र का प्रभाव और भगवान् वर्द्धमान का परिचय पाकर गुवाल काँपने लगे। गिड़गिड़ा कर बोले–हमें मालूम नहीं था। अपराध क्षमा हो!

भाइयो! अनजान को क्या पता? अज्ञानी वस्तु के गुणावगुण को नहीं जानता। उसको क्या दोष दिया जाय?

हम विहार करते-करते एक गाँव में पहुँचे। वहाँ ओसवालों के तीन घर थे; किन्तु वे अन्य मान्यता वाले थे। अतः

हम ठाकुरजी के मन्दिर में ही ठहर गए। एक साधु से कहा-रावले में जाओ और कुछ मिले तो ले आओ। साधु वहाँ गये तो कुत्ते पीछे लग गए। किन्तु जब वहाँ के ठाकुर को मेरा नाम मालूम हुआ तो वह दौड़ा-दौड़ा आया और बोला-मेरे बाप! पधारो रावले में। जब महाराणा साहब भी आपकी बातें सुनते हैं तो मैं क्या चीज़ हूँ ?'

मतलब यह है कि जब तक परिचय नहीं होता तब तक की बात तो दूसरी है, मगर जान लेने के बाद क्या कहना है!

भगवान् महावीर का परिचय पाकर गुवाल अपने अपने कृत्य के लिए पश्चात्ताप करने लगे;किन्तु भगवान् तो हर हालतमें समभाव में ही विचरण कर रहे थे। उनका दूसरी ओर ध्यान ही नहीं था। वे अपना काम कर रहे थे। वास्तव में जिसे अपने उद्देश्य को पूरा करना है, उसे इस चीज़ पर ध्यान नहीं देना चाहिए कि कौन मेरी महिमा का गान कर रहा है और कौन निन्दा कर रहा है! महिमा की ओर ध्यान देगा तो अभिमान से फूल जायगा और निन्दा की परवाह करेगा तो उद्देश्य को भूल जाएगा। अपने उद्देश्य को पूर्ण करना है तो 'बके जिसे बकने दो और अपना काम धकने दो।'

भाइयो! जो निन्दा करता है उसे करने दो। अपना निंदा करने का कार्य वह करता है और अपना धंधा तुम किये जाओ। भगवान् महावीर इस नीति पर चल रहे थे। उन्हें निंदा और स्तुति की परवाह नहीं थी। उनका एक महान् उद्देश्य था और उसी उद्देश्य को निरन्तर समक्ष रख कर वे महान् साधना में तल्लीन थे। जगत् का कोई भी व्यवहार और मनुष्य की कोई भी वाणी उनके उद्देश्य को दृष्टि से ओझल करने में समर्थ नहीं

थी। एक-निष्ठ भाव से वे विस्मयजनक तपस्या में तल्लीन थे। जो व्यक्ति अपनी समस्त शक्तियों को केन्द्रित करके अपने उद्देश्य की पूर्त्ति में संलग्न हो जाता है सफलता उसे खोजती हुई आती है। भगवान् महावीर के संबंध में भी यही हुआ। बारह वर्ष और एक पक्ष तक छद्मस्थअवस्था में रहने के पश्चात् उन्हें सर्वज्ञ-सर्वदर्शी का पद प्राप्त हुआ। बालुकानदी के किनारे शाली वृक्ष के नीचे भगवान् गोदुहासन से विराजमान थे कि उसी समय आवरण समाप्त हो गए और उन्हें अरिहन्त पद प्राप्त हुआ। भगवान् के केवलज्ञान कल्याणक का महोत्सव मनाने के लिए स्वर्ग से इन्द्र और दूसरे देवगण आये। उन्होंने अत्यन्त श्रद्धा, भक्ति और उत्साह के साथ महोत्सव मनाया। भगवान् वहाँ से विहार करके पावापुरी पधारे। देवता, राजा और अन्य नर-नारी प्रभु के दर्शन करके अपने जन्म को सफल करने के लिए उमड़ पड़े।

उधर उसी ग्राम में एक वृहत् यज्ञ का अनुष्ठान हो रहा था। उस गाँव में सोमल नामक एक ब्राह्मण था। उसकी ओर से यज्ञ हो रहा था और बड़े-बड़े ग्यारह विद्वान् यज्ञ के लिए आमंत्रित किये गये थे। इनमें इन्द्रभूति, अग्निभूति और वायु-भूति तीन सहोदर भाई थे। वे उस समय के प्रमुख विद्वानों में गिने जाते थे। पण्डितगण यज्ञ करा रहे थे। किसी के साथ पाँच सौ, किसी के साथ तीन सौ और किसी के साथ दो सौ शिष्यों का परिवार था। इन ग्यारह विद्वानों में भी इन्द्रभूति प्रधान थे। वे बड़े प्रचण्ड विद्वान् और चर्चावादी थे।

भगवान् महावीर स्वामी वस्ती से बाहर एक उद्यान में विराजमान थे। हजारों देवता स्वर्ग से अपने-अपने विमानों

में बैठकर उतर रहे थे। उन्हें उतरते देखकर याज्ञिक विद्वान् सोचने लगे—'देखो, हमारे यज्ञ के प्रभाव से देवता भी आकर्षित होकर चले आ रहे हैं!' यह सोचकर उनका अभिमान आकाश पर चढ़ गया!

किन्तु यह क्या? पण्डितों ने आश्चर्य के साथ देखा—देवता यज्ञस्थल की ओर न आकर उसी उद्यान की ओर चले जा रहे हैं, जहाँ महावीर स्वामी ठहरे हैं! मनुष्य भूले तो भूले, पर देवता भी भूल जाते हैं? इन देवताओं को क्या हो गया है!

किसी ने कहा—यह सब महावीर की करामात है। यह उन्हीं का प्रताप है। देवगण उन्हीं के दर्शनार्थ जा रहे हैं।

यह सुना तो इन्द्रभूति के पाण्डित्य का तेज चमक उठा। उन्होंने पूछा—यह महावीर कौन हैं? क्या उन्हें नहीं मालूम कि मैं यहाँ आया हूँ? मेरे समक्ष आने का साहस उन्हें कैसे हुआ? अच्छी बात है, मैं उनके पास जाता हूँ और उनके पाण्डित्य की कलई खोलकर रख देता हूँ।

भाइयो! विद्या होने पर अभिमान नहीं आना चाहिए। जो विद्यावान् होकर भी अभिमान करता है, समझना चाहिए कि उसे विद्या का रस अभी तक नहीं आया है। उसने विद्या का बोझ ढोया है, मज़ा नहीं चखा। इसी प्रकार धन-सम्पत्ति पाकर भी अभिमान नहीं करना चाहिए। कहा भी है—

हे खगेश विरला जग-माहीं,
प्रभुता पाय जाहि मद नाहीं।

प्रभुता अर्थात् ऐश्वर्य पाकर भी जिन्हें घमण्ड नहीं आता, ऐसे मनुष्य इस संसार में विरले ही होते हैं। जो औरों को भला करे लेकिन मुँह से न कहे कि मैं ने भला किया है! ऐसे लोग कम होते हैं। अकसर तो थोथा चना बाजे घना, तथा ऊँची दुकान फीके पकवान वाली कहावत ही चरितार्थ करते हैं।

यद्यपि इन्द्रभूति प्रथम श्रेणी के विद्वान् थे, किन्तु अभिमानी थे। वह कहने लगे--मैं महावीर के पास जाता हूँ और एक ही प्रश्न में उन्हें निरुत्तर कर दूंगा।' वे अपने ५०० विद्यार्थियों को साथ लेकर चले। 'सरस्वतीपुत्र की जय!' विद्यावाचस्पति की जय' के नारे लगने लगे! वे भगवान् के पास पहुंचे। उधर परमवीतराग, शान्तिमयी मुद्रा वाले भगवान् विराजमान थे। भगवान् के समक्ष जब इन्द्रभूति पहुँचे तो उनकी दिव्य मुद्रा और अलौकिक तेज देखकर चकित और स्तंभित रह गए। मन ही मन सोचने लगे--मैं ने इन्हें साधारण व्यक्ति समझा था, किन्तु बात ऐसी नहीं है। यह तो अतीव तेजस्वी हैं!

भाइयो! पुण्य के योग से शरीर अच्छा और तेजस्वी मिलता है। रोब भी दुनिया में बड़ी चीज़ है। पूज्य उदयसागरजी म., पूज्य श्रीलालजी म. तथा पूज्य मुन्नालालजी महाराज का शरीर भी बहुत तेजस्वी था। शरीर का अतिशय भी एक बड़ा अतिशय माना जाता है। तीर्थंकर भगवान् को पुण्य का परम प्रकर्ष होता है। छद्मस्थ अवस्था में वे तपस्या करते हैं, परन्तु केवलज्ञानी हो जाने पर तपस्या नहीं करते। उनके तेज के आगे सूर्य भी फीका पड़ जाता है और सौम्यता में चन्द्रमा भी पराजित हो जाता है।

हाँ, तो इन्द्रभूति ने भगवान् का जो असाधारण तेजोमान् तथा प्रभावशाली रूप देखा तो उनका आधा अभिमान गल गया ! वह सोचने लगे--काव्य में ऐसे रूप की कल्पना हो सकती है, परन्तु क्या वास्तविक जगत् में भी यह दिव्य रूप सम्पत्ति संभव है ! यह ब्रह्मा हैं, विष्णु हैं या महेश ? इन्हें क्या कह कर सम्बोधन करूँ ? कुछ न कुछ तो कहना ही पड़ेगा। परन्तु क्या कहूँ ? इनके लिए उपयुक्त कोई विशेषण ही नहीं मिल रहा है ! ऐसी अद्भुत शरीर-सम्पत्ति मैं प्रथम बार ही देखता हूँ !

इन्द्रभूति इस प्रकार सोच-विचार कर ही रहे थे कि भगवान् ने उनके पशोपेश को दूर कर दिया। भगवान् ने मधु-सिक्त स्वर में कहा—'गौतमजी, आ गए !'

इन्द्रभूति का गोत्र गौतम था। भगवान् के मुखारविन्द से अपना गोत्र सुना तो उनको अभिमान फिर कुछ बढ़ने लगा। सोचने लगे-सूर्य को कौन नहीं पहचानता ! संसार में मेरा नाम किससे छिपा है ! यदि यह मुझे पहचानते हैं तो इसमें आश्चर्य ही क्या है ? हाँ, मेरे मन की बात कहें तो समझूँ कि यह ज्ञानी हैं ! मेरे अन्तःकरण में जो प्रश्न उठता रहता है और मुझे समय-समय पर विचलित करता है, उसका समाधान हो जाय तो मैं इन्हें पूर्णज्ञानी मानूँ !

उसी समय भगवान् ने कहा--गौतम ! तुम्हें आत्मा के विषय में सन्देह है और वह सन्देह वेद की कतिपय ऋचाओं के कारण उत्पन्न हुआ है।

,विज्ञानघन एव एतेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानु-विनश्यति। न प्रेत्यसंज्ञाऽस्ति।'

इस ऋचा को तुम आत्मा के निषेध के अर्थ में समझते हो; परन्तु यह आत्मा की निषेधक नहीं, समर्थक है। तुम इसका अर्थ समझते हो कि विज्ञानघन अर्थात् आत्मा भूतों से उत्पन्न होती है और उन्हीं के साथ नष्ट हो जाती है, परलोक नहीं है। किन्तु यह अर्थ विपरीत है। तुमने वेद को शब्दार्थ मात्र समझा है, उसका मर्म नहीं पाया। इसी कारण इस प्रकार के गलत अर्थ करते हो। इस ऋचा का असली एवं तथ्य अर्थ है कि सिर्फ ज्ञान अर्थात् उपयोग ही भूतों के निमित्त से उत्पन्न होता है और उनके न रहने पर नहीं रहता है--आत्मा तो अजर--अमर है, वह भूतों से उत्पन्न नहीं होती। 'न प्रेत्यसंज्ञास्ति' का अर्थ यह है कि उत्तरकालीन ज्ञान उत्पन्न होने पर पूर्वकालीन ज्ञान नष्ट हो जाता है; दो ज्ञान एक साथ नहीं होते। इस प्रकार जो ऋचा आत्मा के अस्तित्व को और नित्यत्व को प्रतिपादन करने वाली है, उसे तुम निषेधक समझते हो। इस कारण तुम्हें आत्मा के नित्यत्व में शंका बनी रहती है।

भाइयो! आत्मा आकाश की भाँति अरूपी है, इस कारण वह नेत्रों से दिखाई नहीं देती। दिखाई देती तो जाती हुई आत्मा को उसके प्रेमीजन पकड़ लेते और कहते—कहाँ जाते हो! अभी तो विवाह हुआ है और अभी-अभी कहाँ जा रहे हो! तुम चले जाओगे तो इस बुड्ढी माँ को कौन खिलाएगा? परन्तु आत्मा दृष्टिगोचर नहीं है। जो भूतकाल में जीवित था, वर्त्तमान में जीवित है और भविष्काल में भी सदैव जीवित रहने वाला है—त्रिकाल में जिसका अस्तित्व नहीं मिट सकता, वही जीव है। वह नित्य है, अमूर्त्तिक है; फिर भी पर्यायदृष्टि से परिवर्त्तनशील है। शस्त्र उसे छेद नहीं सकते, आग उसे जला नहीं सकती, जल से वह गल नहीं सकती और हवा से

सोख नहीं सकती। उसमें वर्ण नहीं, रस नहीं, गंध नहीं, स्पर्श नहीं, शब्द नहीं। इस कारण वह इन्द्रियों से अगोचर है। मन से भी अगम्य है। क्यों कि जो वस्तु इन्द्रियगोचर नहीं हो सकती, वह मनोगोचर भी नहीं हो सकती।

भाइयो! सब से पहले गिनती में एक की आवश्यकता है। एक पर ही सारा खेल निर्भर है। एक में एक मिलाओ तो दो दो में एक मिलाओ तो तीन होते हैं। आगे के समस्त अंक भी इसी तरह एक के मिलाने से बनते हैं। एक न हो तो सारी संख्या समाप्त हो जाय! इसी प्रकार जगत् में जो असंख्य व्यवहार चल रहे हैं, उन सब का मूल आत्मा है। आत्मा न होता तो सारे के सारे अड़ंगे खत्म हो जाते!

देखो, घर है तो घर में रहने वाले भी होते हैं। इसी प्रकार शरीर है तो शरीर में रहने वाला भी कोई होना चाहिए। जो शरीर में रहता है वही जीव है। जब शरीर में जीव नहीं रहता तो दो घंटे बाद ही वह इतनी बदबू देने लगता है कि लोग कहते हैं--देरी मत लगाओ! जल्दी करो। अब जरा विचार करो कि ऐसा क्यों होता है? यह सब जीव की महिमा है!

किसी ने कहा—मकान तो अच्छा है, पर इसमें रहने वाला भी कोई है या नहीं? उत्तर मिला—पत्थर फैंक कर मालूम कर लो। जब पत्थर फैंको तो लोग बाहर आये और कहने लगे—किसने पत्थर फैंके? इसी प्रकार इस शरीर में सुई घुसेड़ कर देख लो; यदि जीव होगा तो झट हाथ पकड़ लेगा और कहेगा—अरे यह क्या करता है! और यदि जीव नहीं होगा तो चाहे लक्कड़ लगा कर जला दो, तो भी कुछ नहीं

कहेगा। भाइयो! देख कौन रहा है? सुन कौन रहा है? सुख-दुःख का अनुभव किसको हो रहा है? गुलाबजामुन खाकर कौन मज़ा मानता है? कड़वी चीज़ जीभ से लगने पर कौन थू-थू करता है? यह सब जीव का ही काम है। किसी ने मुर्दे को देखते सुनते, बोलते और सुख-दुःख का अनुभव करते देखा है? जीव न होता तो जिन्दे और मुर्दे में अन्तर ही क्या रहता?

मकान को मालूम नहीं होता कि मेरे अन्दर कितने लोग रहते हैं? किन्तु रहने वालों को खबर है कि यह हमारा मकान है। कोई टूटफूट हो जाती है तो फौरन कारीगर को बुलाकर मरम्मत कराते हैं। इसी तरह तुम इस शरीर में रहते हो और जानते हो कि यह मेरा शरीर है। छोटा-सा गूमड़ा हो जाता है तो डाक्टर के पास जाकर इलाज कराते हो! लेकिन जब जीव नहीं रहता तो मुर्दे के गूमड़े का कोई इलाज कराता है? जब तक जीव अन्दर रहता है तब तक सब सार-सँभाल की जाती है, लेकिन-

तन मन्दिर को खबर नहीं, अन्दर किसका उजियाला है।
पर आत्माराम तो जान रहा, जो खुद उसका रखवाला है॥

तन-मन्दिर को खबर नहीं है कि भीतर किसका प्रकाश हो रहा है? हाँ, जीव को मालूम है कि यह शरीर है, यह आँख, नाक, कान और मुँह है।

भगवान् कहते हैं--हे गौतम! जीव अलग है और शरीर अलग है। दोनों परस्पर विरुद्ध गुण-स्वभाव वाले हैं। दोनों को एक समझने का कोई आधार नहीं है, कोई प्रमाण नहीं है। आत्मा का लक्षण ज्ञान है, जड़ में ज्ञान नहीं होता।

घड़ी में चाबी भर दी और वह टन्-टन्-टन् करती है, किन्तु वह जड़ है और उसे खबर नहीं कि कितने बजे हैं ! किन्तु आत्मा में ज्ञान है और वह जानता है कि मैं क्या बोल रहा हूं और मुझे कब क्या बोलना चाहिए ?

भगवान् बोले--गौतम ! तुम आत्मा के विषय में सन्देह कर रहे हो और प्रश्न करना चाहते हो; मगर यह क्यों नहीं सोचते कि यह प्रश्न करने वाला कौन है ? सन्देह करने वाला कौन है ? उत्तर की आकांक्षा किसको होती है ? क्या यह किसी जड़ पदार्थ में हो सकता है ? किसी जड़ पदार्थ में सन्देह, प्रश्न और जिज्ञासा होती देखी है ? अतएव जो आत्मा के विषय में सन्देह करता है, वही तो आत्मा है। आत्मा ही अपने विषय में जिज्ञासा कर सकता है। जड़ पदार्थों को अपने आपको समझने की इच्छा नहीं होती। वे अपना विधान या निषेध करने में समर्थ नहीं हैं।

इन सब बातों को ध्यानपूर्वक सोचने से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हो जाता है ! अब प्रश्न हो सकता है कि आत्मा कब से है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि जब से जगत् है तभी से आत्मा है। जगत् कब से है ? उत्तर होगा-जब से आत्मा है !

आप कहेंगे-यह तो चक्कर में डालने की बात है ! इस उत्तर से न आत्मा की आदि का पता चलता है, न जगत् की आदि का। बात ठीक है; आदि हो तो मालूम होनी चाहिए; किन्तु जब दोनों की आदि ही नहीं है तो मालूम कैसे हो ! जगत् भी अनादि है और आत्मा भी अनादि है। मुर्गी कब से ? अंडा जब से। अंडा कब से ? मुर्गी जब से। दोनों की कार्य-

कारण-परम्परा अगर अनादिकालीन है तो कोई आदि कैसे बता दे ?

तथ्य यह है कि जड़ और चेतन का समुदाय ही जगत् कहलाता है। जगत् की सत्ता है, यह सभी जानते हैं। और फिर यह एक सर्वसम्मत निर्णीत सिद्धान्त है कि असत् कभी नहीं बनता और सत् का सर्वथा विनाश होकर असत् रूप परिणमन नहीं हो सकता। सत् सदा सत् ही रहता है और असत् सदैव असत् ही रहता है। यह ठीक है कि सत् की विभिन्न अवस्थाएँ पलटती रहती हैं और एक अवस्था मिटकर दूसरी अवस्था उत्पन्न हो जाती है, परन्तु वह कदापि नहीं बन सकता; इसी प्रकार शून्य से कभी सद् नहीं होता। इस सिद्धान्त को अपने सामने रखकर जब हम आत्मा के संबंध में विचार करते हैं तो स्पष्ट हो जाता है कि जब आत्मा का अस्तित्व है तो वह सदा से ही सत् है और सदा ही सत् रहेगा। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि आत्मा अनादि और अनन्त है।

पूछा जा सका है कि आत्मा अगर नित्य है तो वह इधर-उधर नाना योनियों मे क्यों भटकता फिरता है ? इसका उत्तर यह है कि आत्मा का आवागमन करने वाले, एक शरीर से दूसरे शरीर में और एक योनि से दूसरी योनि में ले जाने वाले कर्म हैं। आत्मा है और जगत् है तो, हे गौतम ! कर्म भी मानने पड़ेंगे।

मालवा में एक राजकुमार ने प्रश्न किया था-कर्म अनादि काल से हैं या किसी विशेष समय में लगे हैं ? अगर अनादि काल से हैं तो कभी जुदा नहीं होने चाहिए और यदि किसी विशेष समय में लगे हैं तो उनके लगने से पहले आत्मा निष्कर्म-

शुद्ध-होना चाहिए और यह मानना चाहिए कि शुद्धात्मा भी कर्मों के संयोग से मलीन होकर नाना योनियों में भटकता है।

मैंने उसे उत्तर दिया-जीव और कर्म का संबंध अनादि काल से भी है और सादि भी है। कोई भी कर्म सत्तर कोड़ा-कोड़ी सागरोपम से अधिक समय तक आत्मा के साथ नहीं बँधा रहता, किन्तु उनका प्रवाह अनादिकाल से चला आ रहा है। मतलब यह है कि जीव पहले-पहले के कर्मों को भोगता जाता है और नवीन-नवीन कर्म बांधता जाता है। कोई क्षण ऐसा व्यतीत नहीं होता कि जीव नया कर्मबन्ध न करे। बस, इस प्रकार कर्मों का प्रवाह चला आ रहा है। उदाहरणार्थ-कोई किसी से पचास रुपया उधार लाया। उनमें से पच्चीस चुका दिये और पचास फिर ले आया। पचास फिर चुका दिये और सौ फिर ले आया। जैसे उसका खाता चुकता नहीं होता, लेन-देन चलता रहता है, उसी प्रकार कर्मों का लेनदेन भी चल रहा है। इस प्रकार प्रत्येक कर्म की आदि तो है, परंतु कर्मप्रवाह की आदि नहीं है। जैसे उधार लाने वाला जब नवीन ऋण लेना बंद करता है और पुराना चुकाता जाता है तो कुछ दिनों में उसका खाता बराबर हो जाता है--वह अनृणी हो जाता है, इसी प्रकार जब संवर के द्वारा आस्रव का निरोध कर दिया जाता है और पूर्वबद्ध कर्मों की तपस्या आदि के द्वारा निर्जरा की जाती है, तब आत्मा अकर्म अवस्था प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अनादि का सिलसिला समाप्त हो जाता है।

जैसे बीज और वृक्ष की परम्परा अनादि से चली आ रही है, पर कोई बीज को आग में जला दे तो अनादिकालीन परम्परा वहाँ खत्म हो जाती है, इसी प्रकार कर्मों की परम्परा

भी खत्म हो जाती है। तब सिद्ध, बुद्ध और विशुद्ध आत्मदशा प्रकट होती है। फिर न कोई आवागमन रहता है, न जन्म-मरण रहता है, न किसी भी प्रकार का द्वन्द्व शेष रहता है।

भाइयो! इन्द्रभूति ने भगवान् महावीर के मुख से आत्मा का प्रतिपादन सुना तो उन्हें बोध प्राप्त हो गया। उन्होंने उसी समय भगवान् के चरणों में अपना जीवन समर्पित कर दिया। अपने शिष्यों के साथ भगवान् के शिष्य बन गए! उन्हें अपूर्व समताभाव प्राप्त हो गया। पर आप अपने संबंध में भी सोचिए। आपको वीतराग-वाणी सुनते सुनते वर्षों हो गए हैं। आपको कब भान होगा? कब प्रभु की गोदी में बैठोगे? कब अपना कल्याण करोगे? कब इन्द्रभूति गौतम के पथ पर चलोगे? कभी भी चलो, यह स्मरण रखना कि जब चलोगे और समताभाव धारण करोगे तब आनन्द ही आनन्द हो जायगा!

३१-१२-४८ }
पाली }

१

# पुण्यस्मरण
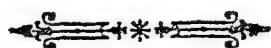
## स्तुतिः—

उच्चैरशोकतरुसंश्रितमुन्मयूख—

माभाति रूपममलं भवतो नितान्तम् ।

स्पष्टोल्लसत्किरणमस्ततमोवितानम्,

बिम्बं रवेरिव पयोधरपार्श्ववर्त्ति ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि–हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

भगवान् जहाँ पर भी विराजमान होते, खड़े होते या पधारते, उनके ऊपर अशोक वृक्ष की छाया होती थी । वह अशोक वृक्ष हरित वर्ण का तथा फलों और फूलों से सम्पन्न

होता था। भगवान् का शरीर स्वर्ण वर्ण का था। अतएव अशोक वृक्ष के नीचे खड़े हुए भगवान् ऐसे प्रतीत होते थे जैसे बादलों में से निर्मल किरणों से सुशोभित, तमोराशि को विनष्ट करने वाला सूर्य बिम्ब हो!

भगवान् के शरीर से बारह गुणा ऊँचा अशोक वृक्ष वनस्पतिकाय का नहीं होता, बल्कि विशेष प्रकार के पुद्गलों का होता है। कहा जा सकता है कि यदि वनस्पतिकाय का नहीं होता तो उसमें हरा रंग कैसे आ गया? ऐसा कहने वालों को यह भी सोचना चाहिए कि इन्द्रधनुष में तरह-तरह के रंग कहाँ से आ गए? वास्तव में यह कोई नियम नहीं है कि वनस्पति के सिवाय किसी में हरा रंग होता ही नहीं। वर्ण पुद्गल द्रव्य का गुण है और हरित वर्ण, वर्ण गुण की पर्याय है। वह किसी भी पुद्गल में हो सकती है।

अशोक का अर्थ होता है--शोक से रहित। अशोक वृक्ष संसार के प्राणियों को मानो यह संदेश देता है कि मैं तो अशोक हूँ, किन्तु भगवान् विगतशोक हैं, अथवा मैं तो केवल नाम मात्र से अशोक हूँ, मगर प्रभु वास्तव में अशोक हैं। भगवान् के चरणारविन्द की छाया में जो आ जाता है, उसका समस्त शोक, दुःख, ताप और पाप प्रणष्ट हो जाता है।

आशंका हो सकती है कि अशोक और विगतशोक में क्या अन्तर है? भगवान् को विगतशोक और वृक्ष को अशोक कहा है, तो किस अभिप्राय से? इसका उत्तर यह है कि न्याय-शास्त्र में चार तरह के अभाव माने जाते हैं— (१) प्रागभाव (२) प्रध्वंसाभाव (३) इतरेतराभाव और (४) अत्यन्ताभाव। इनमें से देवनिर्मित अशोकतरु पौद्गलिक होने से उसमें शोक

का अत्यन्ताभाव है, क्योंकि वह त्रैकालिक अभाव है। अर्थात् पुद्‌गल में शोक का अनुभव करने की शक्ति ही नहीं है। उसमें न शोक था, न है और न होगा। शोक जीव को ही होता है। किसी वस्तु का पहले सद्‌भाव होकर फिर जो अभाव होता है, वह प्रध्वंसाभाव कहलाता है। भगवान् में शोक का प्रध्वंसाभाव है। जिसमें शोक का अत्यन्ताभाव है उसे यहाँ अशोक और जिसमें प्रध्वंसाभाव है उसे वीतशोक कहा गया है। सारांश यह है कि जड़ पदार्थ में शोक का उद्‌भव ही नहीं होता, अतएव उसके अशोक होने में कोई विशेषता नहीं है। विशेषता तो उन प्रभु की है जिन्होंने शोक को, तपश्चर्या और साधना के द्वारा, सर्वथा जीत लिया है! इसी कारण वे वीतशोक कहलाते हैं; वीतशोक को अशोक कहने में भी कोई बाधा नहीं है। यह जो शब्दभेद किया गया है सो यह बतलाने के लिए शोक का अभाव समान होने पर भी उस अभाव के निमित्त में भिन्नता है।

भगवान् ऋषभदेव शोक से सर्वथा अतीत हैं, और उनकी महत्ता यह है कि जो शोकग्रस्त प्राणी उनकी शरण लेता है, वह भी शोक से रहित हो जाता है। उसकी समस्त चिन्ताएँ उसी प्रकार दूर हो जाती हैं, जिस प्रकार सूर्य का प्रखर प्रताप तिमिर को दूर कर देता है!

भाइयो! यह शोक या चिन्ता कोई मामूली चीज़ नहीं है। प्रत्येक संसारी प्राणी पर इसका असर रहता है। किसी न किसी प्रकार की चिन्ता लोगों को लगी ही रहती है। सभी चिन्ता के चंगुल में फँसे रहते हैं। चिन्ता सारी चतुराई को हरण कर लेती है। चिन्ता के आगे पण्डिताई धरी रह जाती

है। चिन्ता मनुष्य जीवन का घुन है। घुन लगने पर अनाज का दाना धीरे धीरे निःसत्व होता जाता है और अन्त में खोखला हो जाता है। इसी प्रकार चिन्ता मनुष्य के जीवन को निःसत्व और खोखला बना देती है। चिन्ता को जीवन का बड़ा दुर्भाग्य समझना चाहिए, अभिशाप कहना चाहिए। वास्तव में वे धन्य हैं जो चिन्ता रूपी व्याघ्री के पंजे में नहीं फँसे हैं। चिन्ता के समान कोई अन्य शत्रु नहीं। चिता के साथ चिन्ता की तुलना करते हुए कवि कहता हैः—

चिन्ताचितयोर्मध्ये, चिन्ता एव गरीयसी।
चिता दहति निर्जीवं, चिन्ता दहति सजीवकम्॥

अर्थात्--चिन्ता और चिता में से चिन्ता अधिक भयंकर है-जबर्दस्त है। चिता निर्जीव कलेवर को जलाती है तो चिन्ता सजीव को भी जला कर राख बना देती है।

यह कौन नहीं जानता कि चिन्ता से किसी अभाव की पूर्त्ति नहीं होती, चिन्ता किसी रोग की दवा नहीं है, चिन्ता निर्धन को धनवान् नहीं बना सकती, अशक्त को शक्ति नहीं दे सकती। वह तो उलटी हानि ही उत्पन्न करती है। बीमारी में चिन्ता करने से बीमारी बढ़ जाती है; निर्धनता में चिन्ता करने से बीमारी बढ़ जाती है; निर्धनता में चिन्ता करने से धनोपार्जन करने की रही सही क्षमता भी चली जाती है। इस प्रकार चिन्ता मनुष्य की शक्ति का अपहरण कर लेती है। और इस बात को कौन नहीं समझता ? सभी चिन्ताजन्य हानियों से परिचित हैं। फिर भी अत्यन्त आश्चर्य की बात है कि सभी चिन्ता के चंगुल में फँसे रहते हैं !

लेकिन जो भगवान् महावीर का सच्चा श्रावक है, उसे चिन्ता नहीं होती। वह चिन्ता को अपने पास भी फटकने नहीं देता। उसके विषय में तो कहा गया है:—

गई वस्तु सोचे नहीं, आगम वांछा नाहिं।
वर्तमान वरते सदा, सो ज्ञानी जगमाहिं ॥

सच्चा श्रावक किसी इष्ट पदार्थ का वियोग होने पर शोक नहीं करता और भविष्य में किसी वस्तु को पाने के लिए चिन्ता नहीं करता। वह वर्त्तमान में जो सुख-दुःख हो रहा है, उसमें भी समभाव रखता है। सुख में हर्ष नहीं, दुःख में विषाद नहीं, व्याकुलता नहीं, घबराहट नहीं। वह सुख-दुख को समभाव के सांचे में ढाल कर एक रूप कर देता है। पहले धनवान् थे तो क्या और आज फूटी कौड़ी पास में नहीं है तो क्या! प्रत्येक परिस्थिति में वह सन्तुष्ट है। उसे अपनी वर्त्तमान स्थिति के लिए किसी के प्रति कोई शिकायत नहीं है। ऐसी भावना वाला ही ज्ञानी कहलाता है। जहाँ ज्ञान है वहाँ चिन्ता का काम है? नहीं।

चिन्ता आठवें अनर्थदण्ड में गर्भित है। चिन्ता करने से न कुछ आता है, न जाता है। चिन्ता करने से कोई अनिष्ट मिटता होता अथवा इष्ट प्राप्त होता तो समग्र संसार यथेष्ट सम्पत्ति आदि का स्वामी बन गया होता! फिर तो किसी चीज़ की कमी न रह जाती! मगर ऐसा हो नहीं सकता। प्रत्येक प्राणी को अपने पुण्य-पाप के उदय के अनुसार फल मिलता है। चिन्ता उस फल को पलट देने में समर्थ नहीं है। अतएव चिन्ता करने से कोई लाभ नहीं हो सकता। अलबत्ता,

चिन्ता से अनेक हानियाँ होती हैं। प्रथम तो वह आर्त्तध्यान रूप है और आर्त्तध्यान से पाप का बन्ध होता है। पाप का बंध भविष्य में हानिकारक ही हो सकता है, लाभकारी नहीं। यह चिन्ता का दुष्फल अवश्यंभावी है, किन्तु मनुष्यों को प्रत्यक्ष नहीं दिखाई पड़ता। लेकिन उससे होने वाली मानसिक और शारीरिक हानियाँ तो प्रत्यक्ष अनुभव में आती हैं। चिन्ता के कारण मनुष्य दुर्बल हो जाता है और अपनी प्राप्त मानसिक एवं शारीरिक स्वस्थता से भी हाथ धो बैठता है। ज्ञानी पुरुष ऐसा सोच कर व्यर्थ चिन्ता के शिकार नहीं बनते।

भाइयो! चिन्ता से बचो। अगर मन नहीं मानता है और चिन्ता करता ही है तो प्रशस्त चिन्ता ही करो। सोचो- मेरा कल्याण कब होगा? मैं संसार-सागर से कब तिरूँगा? मुझे मुक्ति-लक्ष्मी की प्राप्ति कब होगी? मैं अपने शुद्ध स्वरूप में कब रमण करूँगा? संकल्प-विकल्पों से तथा समस्त आशा और तृष्णा से कब छुटकारा पाऊँगा?

आचारांग सूत्र में उल्लेख है कि जो पण्डित है, मेधावी है, उसकी चिन्ता क्षणमात्र में नष्ट हो जाती है। भाई, प्रथम तो पुण्यवान् को चिन्ता होती नहीं और कदाचित् हो जाय तो ठहरती नहीं। देखो, मरुदेवी माता के मन में चिन्ता हुई कि मैं ऋषभदेव को कब देखूँ, तो उन्हें ऋषभदेव का साक्षात्कार हो ही गया। उनके समान कौन पुण्यवान् था? उन्होंने अपने परिवार की बहुत-सी पीढ़ियाँ देखीं, किन्तु मरते किसी को नहीं देखा। जितने जनमे, उनके जीते कोई नहीं मरा कभी शोक या संताप का नाम नहीं सुना। उनका सुहाग अटल रहा। कभी काले वस्त्र पहनने का अवसर नहीं आया।

भाइयो ! प्रकृष्टतर पुण्य लेकर आई थीं मरुदेवी माता ! करोड़ पूर्व की लम्बी आयु में उन्हें कभी शिरोवेदना तक नहीं हुई ! कभी टसका भी नहीं करना पड़ा । वे प्राणों, भूतों, जीवों और सत्वों को बहुत साता उपजा कर आई थीं । बहुत जीवदया की थी और शील पाला था ।

आप बादाम का हलुवा खाते हैं तो झट गले उतर जाता है । लेकिन बादामों के लिए पैसा कमाने में खून का पसीना करना पड़ता है । खाने में जोर नहीं लगता, कमाने में जोर लगता है । इसी प्रकार धर्म-और पुण्य की क्रिया करने में बहुत जोर लगता है । परिणामों की लहरों का पार नहीं है । धर्म करते-करते अरुचि आ जाती है, दान देते-देते परिणाम बदल जाते हैं । मगर मरुदेवी माता ने एकनिष्ट भाव से पुण्य का बन्ध किया था, बीच में परिणामों में ठेस नहीं लगने दी थी । एक सरीखा पुण्य नहीं होता तो पति है तो पत्नी नहीं, पत्नी है तो पति नहीं ! पुण्य के फल भोगते-भोगते बीच में अनेक विघ्न आड़े आते हैं । मगर मरुदेवी भगवती ने कैसा विलक्षण पुण्य-बन्ध किया था !

भाइयो ! पुण्य दो प्रकार के होते हैं । कोई पुण्य साधक और कोई बाधक होता है । उसे शास्त्रीय परिभाषा में पुण्यानुबन्धी पुण्य और पापानुबन्धी पुण्य कहते हैं । मरुदेवी माता का पुण्य साधक था और ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती का बाधक था । बाधक पुण्य ने ब्रह्मदत्त चक्री को नरक में पहुँचा कर छोड़ा और साधक पुण्य ने माता मरुदेवी को मुक्ति के द्वार तक पहुँचाया । पापानुबन्धी पुण्य मोक्ष में जाने से रोकता है । वह ईश्वर का नाम नहीं लेने देता, दान नहीं देने देता, लखपति-

करोड़पति होने पर भी सामायिक नहीं करने देता! पुण्य के उदय से सेठ हुआ, किन्तु वह सेठाई उसे पुण्य नहीं करने देती; रंडी नचाने में हजारों का पानी करा देती है, पर दीन--दुखिया और अनाथ के प्राणों की रक्षा के लिए एक पैसा खर्च नहीं करने देती!

ऐसे पुण्य के फल भोगकर जीव पापों का उपार्जन करता है और फिर नरक तथा निगोद का मेहमान बनता है।

साधक पुण्य या पुण्यानुबन्धी पुण्य इससे विपरीत होता है। जिस पुण्य के फलस्वरूप जीव यहाँ सुख भोगता है और धर्म का आचरण करके आगे स्वर्ग या मोक्ष के सुख प्राप्त करता है, वह पुण्यानुबन्धी पुण्य कहलाता है। शालिभद्र और मरुदेवी माता का पुण्य ऐसा ही महान् पुण्य था।

जिनागम का तत्त्वविवेचन बहुत सूक्ष्म और परिपूर्ण है। आप आगमों का स्वाध्याय करें तो पता चले! मगर आपको तो सवाये और ड्योढ़े करने की ही चिन्ता रहती है! आत्मा के कल्याण की बात सोचने और समझने को अवकाश कहाँ है?

स्त्री सोलह शृंगार सज कर ऊपर गई किन्तु पतिराज अंधे बैठे हैं। वह अपना शृंगार बताए तो किसे बताए? यह शास्त्र सोलह शृंगार हैं, पर उन्हें आँखों वाले ही देख सकते हैं। 'भाग्यहीना न पश्यन्ति' इन वचनों को भाग्यहीन पुरुष नहीं देख सकते। पुण्यवान् पुरुष ही इनका अवलोकन, चिन्तन और मनन करते हैं।

एक साधुजी जा रहे थे। उन्हें रास्ते में सोने का आभूषण पड़ा दिखाई दिया। किन्तु उन्हें उससे क्या प्रयोजन था?

'साधु चाले नंगे पांव कीड़ी को बचाय के ।'

साधु के लिए तृण और मणि तथा सोना और मिट्टी समान हैं। उन्हें उस आभूषण का क्या करना था ? जैसे पत्थर पड़े थे वैसे ही वह सोना भी पड़ा था ! तो साधुजी ने उसे देखा और देखकर बिना रुके आगे चले गए। कुछ ही आगे एक वृक्ष था। वे उस वृक्ष के नीचे बैठ गए।

सामने से एक भील लकड़ियों का भारा लेकर आ रहा था। महात्मा ने सोचा—देखें, वह सोना इस भील के भाग्य में है या नहीं ! मगर वह उसके भाग्य में नहीं था। दस-पाँच पाँवड़े पहले ही वह दूसरी पगडंडी पर लग गया। इस घटना को देखकर महात्मा ने सोचा—पद-पद पर खजाने भरे पड़े हैं, पर उनकी प्राप्ति भाग्यवानों को ही होती है !

भाइयो ! जो जूएँ मार कर आये हैं, बिना छना पानी पीकर आए हैं, चोरी करके आए हैं, ठगाई करके आए हैं और जीवों को सता कर आए हैं, वे चाहें अगर सुखी होना तो कैसे हो सकते हैं ? लखपति और करोड़पति बनना चाहें तो किस प्रकार बन सकते हैं ?

ठीक है भाई, बनो न करोड़पति और अरबपति, कौन रोकता है आपको !

तब बोले—मगर हमारे भाग्य में नहीं है बनना !

तो फिर पहले ऐसे कर्म ही क्यों किये थे ? और पहले किये सो किये, अब तो सँभल सकते हो ! जो तीर छूट गया सो छूट गया, किन्तु जो हाथ में है उसे तो सँभाल सकते हो !

अतीत तुम्हारे हाथ में नहीं है, वर्त्तमान तो है ! उसे सुधार सकते हो ! चतुर मनुष्य भूतकाल का रोना रोने नहीं बैठता। भूतकाल की भूलों से वह शिक्षा ग्रहण करता है और वर्त्तमान को सुधारने का प्रयत्न करता है। अगर तुमने भूतकाल में पापाचरण किया और उसके फलस्वरूप कष्ट भोगना पड़ रहा है तो उसे समभाव से भोगो और पुण्य का आचरण करो। ऐसा करने से पाप कट जाएगा और भविष्य कल्याणमय बन जाएगा।

भाइयो ! कष्ट भोगे विना आत्मा पर चढ़ा हुआ कर्ज़ नहीं उतरता। जो ऋण तुम ले चुके हो, उसे चुकाये बिना काम नहीं चल सकता। उसे चाहे शान्ति और धैर्य के साथ चुकाओ, चाहे रो-धो कर चुकाओ। हर हालत में चुकाना तो पड़ेगा ही। हाँ, शान्ति और धैर्य के साथ चुकाओगे तो आगे अच्छा फल पाओगे और रो-धो करके, हाय हाय करके चुकाओगे तो भविष्य के लिए और भी अधिक भार बढ़ा लोगे ! अतएव हाय-हाय न करो। समभाव से सब कुछ सहन करो।

अपना भविष्य सुधारना चाहते हो तो महात्मा पुरुषों के जीवन चरित पढ़ो कि उन्होंने किस प्रकार आए हुए कष्टों को सहन किया, यही नहीं, उन्होंने कष्टों को आमंत्रित भी किया और उन पर विजय प्राप्त की। वे थे महान् पुण्य के धनी ! जैन-इतिहास ऐसे पुण्यशाली महापुरुषों की जीवनियाँ हमारे सामने प्रस्तुत करता है, जिन्होंने आश्चर्य जनक कृत्य किये थे। बहुत प्राचीन इतिहास को जाने दीजिए, कुछ ही शताब्दियों पहले के इतिहास पर दृष्टि डालिए तो भी आपको एक से एक बढ़ कर पुण्यपुरुष दृष्टिगोचर होंगे। कई तो ऐसे

सन्त हो गए हैं जिन्होंने लाखों की सम्पत्ति को ठुकरा कर अकिंचनता धारण की थी।

कहा जा सकता है कि लाखों की सम्पत्ति त्यागने वाले विरले ही होते हैं, अधिकांश तो निर्धन ही साधु बनते हैं। पर इस कथन में दीर्घदर्शिता का अभाव है। मनुष्य के लिए धन-सम्पदा के आकर्षण से भी बड़ा प्रबल आकर्षण भोगोपभोगों का होता है। साधु बनने पर विषयभोगों का सर्वथा त्याग करना पड़ता है। कोई रंक हो या राजा, विषयों का आकर्षण सब को होता है और उसका परित्याग करना हँसी-खेल नहीं है। किन्तु जिन्होंने उसका परित्याग कर दिया, और संयममय जीवन धारण कर लिया, वे क्या कम प्रशंसा के पात्र हैं? साधु बनने के लिए जिस प्रकार राजा को निरीहभाव धारण करना पड़ता है, उसी प्रकार रंक को भी। जिस तरह राजा को अपनी वासनाएँ दबानी और नष्ट करनी पड़ती हैं, उसी तरह रंक को भी। जिस प्रकार राजा को अपनी इन्द्रियों और मन पर विजय प्राप्त करनी होती है उसी प्रकार रंक को भी। बल्कि राजा भुक्तभोगी होता है, उसके मन में एक तरह की सन्तुष्टि या तृप्ति रहती है, अकिंचन में यह बात नहीं होती। फिर भी वह भोगों का त्याग करता है इस दृष्टि से अकिंचन का त्याग राजा के त्याग से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

तात्पर्य यह है कि कोई राजा हो या रंक, जो संयम को धारण करके, विजितेन्द्रिय होकर, निष्काम वृत्ति ग्रहण करके समभाव में विचरता है और आत्मविशुद्धि तथा जगत्कल्याण ही जिसका एक मात्र ध्येय बन जाता है, वह सर्वथा श्लाघ्य है, मानवसमूह का आदर्श है, पूज्य है और उसका मार्ग जगत्

को प्रशस्त बनाने वाला है। वे परम पुण्य के धनी हैं। ऐसे महान् पुरुषों का स्मरण, कीर्त्तन और गुणगान हमारी आत्मा को एक ऊँची प्रेरणा देता है और पवित्र बनाता है।

भाइयो! तुम पुण्य का उपार्जन करना चाहते हो तो इसका सुगम से सुगम साधन संतों के गुणों का उत्कीर्त्तन करना है। द्रवित अन्तःकरण से सन्तों का गुणगान करो। इससे तुम्हारे पापों का क्षय होगा और पुण्य प्रकट होगा।

अपने इस बाईस सम्प्रदाय में अनेक पुण्यशाली सन्त महात्मा हो चुके हैं। उनका त्याग और तप उच्चकोटि का था। विक्रम संवत् १८७९ में पूज्य हुक्मीचन्द्रजी म० ने दीक्षा धारण की। वे टोडे गाँव के रहने वाले थे। लालचन्द्रजी महाराज के शिष्य थे। इन महात्मा ने २१ वर्ष तक बेले-बेले तप किया और जीवनपर्यन्त मिठाई खाने का त्याग किया। इन्होंने रसना-इन्द्रिय को ऐसा जीत लिया था कि आहार में केवल तेरह चीजें रक्खी थीं। पापड़, बाटी, चूरमा आदि सबका त्याग था। बारह महीने एक ही चादर रखते थे। तली हुई वस्तु के भी त्यागी थे। २०० बार नमुत्थुणं सूत्र का प्रतिदिन पाठ करते थे। वे स्वयं स्थानक में नहीं उतरते थे, किन्तु स्थानक वालों के प्रति किसी प्रकार का दुर्भाव नहीं रखते थे। कदाचित् कोई पूछता-जो स्थानक में उतरते हैं, उनमें साधुपना है या नहीं? तो वे उत्तर देते-अभी तो मेरे ही साधुपन का ठिकाना है या नहीं? मैं दूसरे के विषय में क्या कह सकता हूँ?

एक साधु ने आपसे कहा-महाराज, जीवन भर के लिए दूध का त्याग करा दीजिए। तब आपने फर्माया-नहीं, अभी नहीं। पूछने पर आपने बतलाया दूध विगय में है और साधु

दूध का सेवन न करे तो अच्छा ही है । जो जितना त्याग करे उतना ही वह लाभ में है । परन्तु मैं इसे इस कारण त्याग नहीं कराता कि दूसरे साधू दूध पीएँगे तो यह उनकी निन्दा करेगा ! कितनी दूरदर्शिता है !

विचरते-विचरते पूज्यश्री नाथद्वारे में पहुँचे । व्याख्यान दिया तो वहाँ आसमान से रुपयों की वर्षा हुई । किसी-किसी ने उठाए, किसी ने नहीं उठाए और किसी ने सामायिक में आसन के नीचे दबा लिए । बाद में सामायिक पार कर रुपया लेना चाहा तो हाथ नहीं आया । उसमें का रुपया अभी तक मौजूद है ।

भाइयो ! पूज्य हुक्मीचन्द्रजी महाराज महाभाग्यवान् थे । वे आदर्श महापुरुष हो चुके हैं । उन्होंने अपने उच्चतर तप और त्याग से न केवल एक सम्प्रदाय को वरन् समस्त जैनसंघ को दिपाया । आज भी उनका त्याग हमारे लिए एक पवित्र प्रेरणा है !

भाइयो ! मालवा में धर्मदासजी महाराज हो गए हैं । उनके बहुत से शिष्य थे । एक शिष्य ने धार में संथारा कर तो लिया, मगर बीच में उसकी भावना बिगड़ गई । पूज्य धर्मदासजी महाराज को जब यह खबर लगी कि उसकी भावना गिर गई है और वह धर्म की निन्दा कराने वाला है, तो वे विहार करके धार की ओर चले । रास्ते में लोग बाटी-चूरमा बना रहे थे । उन्होंने बहुत आग्रह किया तो पूज्य श्री ने उनसे आहार ले कर आहार किया, परन्तु पानी नहीं पीया और यावज्जीवन चउविहार संथारा ग्रहण कर लिया । धार में पहुँच कर उन्होंने अपने उस चेले से कहा—चल, उठ कायर हाथी की झूल गधे को नहीं सोहती ! कहा भी है:—

न हि वारणपर्याणं वोढुं शक्तो वनायुजः ।

अर्थात्--हाथी का पलान गधा वहन नहीं कर सकता ।

आखिर वे स्वयं उस चेले की जगह डट गए और समाधि में विचरते हुए अन्त तक महासाधना करते रहे।

मालवा में ही एक नेतसिंहजी महाराज हो गए हैं। वे भी बेले-बेले परणा करते थे। वे छोटे से छोटे गाँव में भी एक रात ठहरते थे। एक बार किसी छोटे गाँव में उपयुक्त जगह न होने से एक पेड़ के नीचे ही ठहर गए। उस दिन अत्यन्त कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। वे रात को वृक्ष के नीचे ध्यान-मग्न होकर खड़े थे कि शीत के प्रबल प्रकोप से बेहोश हो गए। प्रातः काल हुआ और सूर्य की धूप लगने से कुछ गर्मी पहुंची तो होश में आए। वहाँ से विहार करके आगे बढ़े तो एक देवता साथ में हो गया। चलते-चलते जावद पहुँचे। वे अपने पास किसी गृहस्थ को नहीं रहने देते थे। मगर पिछली रात में श्रावक सामायिक करने आये तो दरवाजे पर सिंह को देखकर वापिस भाग गये।

दिन चढ़ने पर वे श्रावक महात्मा के पास गये। महात्मा ने सहज भाव से पूछा--आज समय कैसे चूक गया ? प्रतिदिन तो जल्दी आया करते थे ! आज इतनी देर से ?

श्रावक बोले--महाराज, समय तो चूके नहीं थे, पर द्वार पर शेर बैठा था ! इस कारण वापिस भागना पड़ा !

विहार करते-करते वे रतलाम पहुँचे। रात्रि के समय प्रयोजन विशेष से वे बाहर निकले तो उन्होंने देखा-एक सफेद

फोश आदमी बाहर बैठा है। महात्मा ने समझा-कोई गृहस्थ होगा!

प्रातःकाल उन्होंने श्रावकों से पूछा-कल रात्रि में क्या कोई श्रावक सफेद वस्त्र पहन कर यहाँ आया था ?

सब ने इंकार करते हुए कहा-हम लोग तो आये नहीं; आज रात को ऐसा प्रसंग हो तो उसी समय पूछ लीजिएगा।

अगली रात्रि में सचमुच वैसा अवसर आ गया। महात्मा बाहर निकले तो फिर वही धवल वेषधारी पुरुष दृष्टिगोचर हुआ। इस बार महात्मा ने उससे प्रश्न किया-भाई, कौन हो तुम ?

उत्तर मिला—'देवता !'

'तो यहाँ किस उद्देश्य से बैठे हो ?'

'आपकी सेवा के लिए।'

'क्या तुम महाविदेह क्षेत्र में जा सकते हो ?'

'जी हाँ, क्यों नहीं !'

'अच्छा मेरे लिए तो नहीं, किन्तु वहाँ जाओ तो पूछ लेना कि मेरी कितनी उम्र है।'

देवता को सेवक के रूप में पाकर मनुष्य प्रायः सांसारिक प्रयोजन की पूर्त्ति करने की इच्छा करते हैं या चमत्कार कराने की इच्छा करते हैं। परन्तु नेतसिंहजी ऐसे महापुरुष नहीं थे। उन्होंने देवता से अगर कोई लाभ उठाया तो आत्म-कल्याण का ही। उनका उद्देश्य यह था कि उम्र का पता चल जाय तो अपने जीवन की चरम साधना कर सकें।

देवता गया और उसी समय पूछताछ करके वापिस लौट आया। उसने बतलाया कि पारणा करने पर जब वमन हो जाय तो समझ लेना कि अब मृत्यु सन्निकट आ गई है।

महात्मा अभी तक जीवन-सुधार में संलग्न थे, अब मृत्यु से कुश्ती लड़ने और उसे सुधारने में लग गए। वहाँ से विहार करके चले और जंगल में पहुँचे। भीलों से पूछा—शेर की गुफा कहाँ है ?

एक ने हाथ उठाकर गुफा बतला दी।

दूसरा भील बोला—क्यों बतलाता है ? यह तो महाजनों से लड़ाई करके आये हैं शेर की गुफा में मरने जाना चाहते हैं !

महात्मा शेर की गुफा पर जा पहुंचे और ध्यान लगाकर बैठ गए। शेर आया किन्तु वह बकरी की तरह सीधा हो गया ! उसने उन्हें कुछ भी हानि पहुँचाने का प्रयत्न नहीं किया।

वहाँ से चले और एक बार वे रास्तेमें बहुत गहरी गड़ारों में चीलों के बीच सो गए। उधर से गन्नों से भरी गाड़ियाँ आ रही थीं। गाड़ीवानों को पता नहीं था कि बीच रास्ते में कोई सोता होगा ! गड़ी चल रही थी और महात्मा के सन्निकट आ रही थी पर मस्त महात्मा को अपने बचाव की कुछ भी चिन्ता नहीं थी। आखिर गाड़ी का एक पहिया गर्दन से और दूसरा पैरों से अड़ गया। गाड़ीवान ने पूछा—अरे कौन है ?

महात्मा—मेरे कुछ नहीं अटकता।

गाड़ीवान—दो-चार सांठे लेले और रास्ता छोड़ दे।

महात्मा—मेरे कुछ नहीं अटकता।

गाड़ीवान को गुस्सा आया। वह नीचे उतरा और महात्मा को उठा कर रास्ते से दूर पटक आया और गाड़ी लेकर रवाना हुआ।

इधर महात्मा ने यावज्जीवन वहाँ से उठने का त्याग कर दिया। गाड़ीवान आगे चल कर रतलाम में पहुँचा। उसने महात्मा की बात लोगों को बतलाई तो गाँव वाले समझ गए-वही फक्कड़ नेतसिंहजी होंगे!

उसी समय दो बन्दूकधारी जवान उनकी रक्षा के लिए भेजे गये। जब बन्दूकधारी वहाँ पहुँचे तो यह देखकर उनके आश्चर्य का पार न रहा कि महात्मा के पास दो शेर बैठे हैं-एक सिर की ओर और दूसरा पैर की ओर। पास ही पेड़ पर चढ़ गए और देखने लगे कि यह माजरा क्या है? जो भी जानवर उधर आता, पैरों की ओर बैठा हुआ शेर उसे भगा देता था।

प्रातःकाल हुआ तो बहुत-से गृहस्थ और दस साधु आए। उनमें मेरे गुरु महाराज के पिताजी म. भी थे! करीब १७ दिन का संथारा आया।

भाइयो! हमारे गुरु महाराज के गुरु महाराज और उनके गुरु रत्नचन्द्रजी महाराज थे। वे जावरा पधारे। वहाँ एक देवता प्रतिदिन आकर उनसे मांगलिक सुनकर चला जाता था।

मेवाड़ में एक मानमलजी महाराज हो गए हैं। वे दिन भर में एक बार भोजन करते, और एक बार पानी पीते थे। एक बार जंगल जाकर आ रहे थे कि वर्षा होने लगी। पास में भैरों का एक मन्दिर था। वे वर्षा से बचने के लिए उस

मन्दिर में चले गए। मन्दिर का पुजारी रुष्ट होकर कहने लगा–तुम यहाँ क्यों आए? भैरोंजी को छून लग जाएगी! यहाँ से चले जाओ।

इस पर मान बाबा बोले--क्या भैरोंजी तेरे हैं? तेरे हैं तो तू बुला, नहीं तो मैं बुलाता हूँ।

पुजारी--अच्छी बात है, तुम्हीं बुलाओ!

बाबा--सामने बुलाऊँ या आड़ में?

पुजारी--आड़ में बुलाइए।

बाबाजी ने चादर तान कर भैरोंजी को बुला दिया। वह बालक के वेष में छम-छम करते आ गए!

पुजारी मानमलजी महाराज की ऐसी महिमा देख कर उसी दिन से जैन धर्मी बन गया। आज भी उसकी सन्तान-परम्परा में जैन धर्म का पालन किया जा रहा है।

मेवाड़ में एक महात्मा रोड़जी स्वामी हो गए हैं। उदयपुर में उन्होंने बड़े विकट अभिग्रह किये थे। एक बार यह अभिग्रह किया कि हाथी और वृषभ आहार बहराएगा तो पारणा करूँगा, नहीं तो नहीं!

थोड़े ही दिन बाद महाराणा साहब का हाथी पागल हो गया और छूटकर बाजार में आया। सब लोग डर के मारे घरों में छिपने लगे। उधर स्वामीजी को यह समाचार मिला तो वे आहार का पात्र लेकर हाथी के सामने चल पड़े। बाजार में हाथी का स्वामीजी का आमना-सामना हुआ। स्वामीजी ज्योंही हाथी के सामने पहुँचे कि हाथी ने हलवाई की दुकान से घेवर उठाया।

स्वामीजी ने ऊपर खड़े हलवाई की तरफ देखा। हलवाई, जो इस घटना को देखकर चकित हो रहा था, बोला—महाराज, हाथी दे तो ले लीजिए। बस, हलवाई की आज्ञा मिलते ही स्वामीजी ने पात्र आगे बढ़ाया और हाथी ने घेवर को पात्र में डाल दिया।

इसके बाद एक सांड पागल हुआ। स्वामीजी उसके सामने भी गए। सांड ने गुड़ की भेलियों में सींग मारा और गुड़ लग गया। स्वामीजी ने पात्र मांडा और सांड ने गुड़ बहरा दिया।

पूज्य अमरसिंहजी महाराज एक बार जोधपुर आए तो उनके प्रति विरोध भाव रखने वालों ने उन्हें आसोप की हवेली में ठहरा दिया। उन्हें मालूम था कि उस हवेली में कोई देवता रहता है। विरोधियों ने सोचा—ये उसमें ठहरेंगे तो इनका कुछ अनिष्ट हो जाएगा!

पूज्यजी उसी हवेली में ठहर गए। रात्रि में शास्त्रों का स्वाध्याय किया तो सुनकर देवता प्रसन्न हो गया। उसने प्रकट होकर कहा—आप आनन्द से ठहरिए!

अहमदाबाद में एक दरगाह है। उसमें एक जिन्द रहता था। अगर रात के समय, उस दरगाह में कोई रह जाता तो प्रातःकाल जीवित नहीं बचता था। धर्मसिंहजी नामक एक बड़े महात्मा हो गए हैं। उन्होंने अपने गुरु से कहा—मेरी इच्छा उच्चश्रेणी का संयम पालने की है। कृपया आज्ञा दीजिए। गुरुजी ने उनकी परीक्षा करने के उद्देश्य से कहा—पहले रात भर दरगाह में रह कर आओ!

धर्मसिंहजी को अपने आत्मबल पर विश्वास था। वे सचमुच शाम के समय दरगाह में पहुँचे। वहाँ के फकीर से उन्होंने कहा-मैं इस रात दरगाह में रहना चाहता हूँ। आज्ञा दो तो रह जाऊँ!

फकीर—रहने को तो रह सकते हो, मगर सुबह जिंदा लौटना मुमकिन नहीं है!

धर्मसिंहजी महाराज तो पूरी तैयारी करके गये थे। उन्होंने सिर्फ यही कहा-आप मेरी चिन्ता न करें। ठहरने की आज्ञा मुझे दे दें।

फकीर ने ठहरने की आज्ञा दे दी और धर्मसिंह महाराज वहीं डट गए। रात्रि के समय उन्होंने अखण्ड ज्ञान-ध्यान करना आरंभ किया। क्रूर जिंद प्रकट हुआ। मुनिराज के आत्मबल के प्रताप से वह सीधा हो गया। उसने कहा-साता में विराजिए!

भाइयो! यह वही धर्मसिंहजी महाराज हैं, जिन्होंने शास्त्रों पर टब्बे लिख कर जनता का महान् उपकार किया है!

अम्बाला में लालचन्द्रजी महाराज एक बड़े साधक हो चुके हैं। जब उनका स्वर्गवास हुआ तो चन्दन की लकड़ियों से दाहसंस्कार किया गया। उस समय लोग यह देख कर हैरान हो गए कि मुनि का शरीर तो भस्म हो गया, मगर चादर और चोलपट्टा आज भी मौजूद हैं!

भाइयो! पूज्य जयमलजी महाराज और पूज्य रघुनाथजी महाराज आदि अनेकानेक तपस्वी और महान् सन्त हो चुके

हैं। ये सन्त बेले--बेले पारणा करते थे। उन्होंने ५२ वर्ष तक आड़ा आसन नहीं लगाया।

कहाँ तक बतलाऊँ और किन-किन के नाम गिनाऊँ ? एक से एक बढ़कर महापुरुष हो चुके हैं। संभव है, कोई भाई इन आश्चर्यजनक घटनाओं पर विश्वास न करें; किन्तु जो तपस्या के महान् प्रभाव को जानते हैं और ब्रह्मचर्य की दिव्य महिमा से परिचित हैं, उन्हें संशय करने का कोई कारण नहीं हो सकता। आध्यात्मिक शक्ति बड़ी जबर्दस्त है। उसकी महिमा अचिन्त्य और वचनागोचर है।

देवदाणवगंधव्वा, जक्खरक्खसकिंनरा ।
बंभयारिं नमंसंति, दुक्करं जे करेंति तं ॥

अर्थात्—साधारण प्राणियों को जिसका पालन करना बड़ा कठिन प्रतीत होता है, उस ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले के चरणों में देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर-सभी देवता झुकते हैं।

वास्तव में आत्मा में अनन्त बल है इस सत्य का आभास हमको ऐसी ही घटनाओं से मिलता है। आत्मिक शक्ति के प्रभाव से बड़ी-बड़ी अद्भुत घटनाएँ घटती हैं, किन्तु भौतिक वस्तुओं में संलग्न मनुष्य उन्हें समझने का प्रयत्न नहीं करता। कभी कोई घटना बलात् सामने आ जाती है तो उसके संबंध में उपेक्षा का भाव धारण करता है।

भाइयो ! आज जिन महात्माओं की जीवन घटनाओं का उल्लेख किया गया है, वे महान् पुण्यशाली पुरुष थे। आपको

उनसे महत्त्वपूर्ण पाठ सीखना है। आप तो पुण्य लेकर आए हैं, उसका ऐसा सदुपयोग करो जिससे आपका भविष्य उज्ज्वल बने। आप चिन्ताओं से बचें और पूर्ण निश्चिन्त होकर अक्षय आनन्द के भागी बन सकें।

१-१-४६ }
पाली }

१०

# सद्गुणों का सौरभ
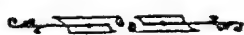
स्तुतिः—

को विस्मयोऽत्र यदि नाम गुणैरशेषै—
स्त्वं संश्रितो निरवकाशतया मुनीश !
दोषैरुपात्तविविधाश्रयजातगर्वैः,
स्वाप्नान्तरेऽपि न कदाचिदपीक्षितोऽसि ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि–हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

भगवान् ऋषभदेवजी में अनन्त गुण थे और उनका प्रत्येक गुण अनन्तता की सीमा पर पहुँच गया था। वे अनन्त ज्ञानी थे, अनन्तदर्शी थे, अनन्तशक्तिमान् थे, अनन्त क्षायिक सम्यग्दृष्टि थे, अनन्त समभाव से सम्पन्न थे। भगवान् के समस्त गुण वाणी से कहे नहीं जा सकते !

भाइयो ! जिसमें गुण होते हैं वही पूजा का पात्र होता है; उसी की प्रशंसा होती है, उसका ही आदर--सन्मान किया जाता है। कालिदास ने कहा है:—

गुणा पूजास्थानं गुणिषु न च लिङ्गं न च वयः ।

अर्थात्—गुण पूजा के पात्र होते हैं; न वेष पुजाता है और न उम्र पुजाती है।

मनुष्य की प्रतिष्ठा और महिमा का आधार उसके गुण ही हैं। जिसमें गुणों के बदले दोष होते हैं वह निन्दा का पात्र बनता है उसकी बदनामी होती है, अपयश होता है। गुणों में एक ऐसी अद्भुत आकर्षण शक्ति होती है कि वे अनायास ही दूसरों के हृदय को अपनी ओर खींच लेते हैं। गुणी मनुष्य अगर किसी का शत्रु हो तो भी वह उसकी प्रशंसा करता है। वास्तव में गुणों की विशेषता यही है कि वे अपने विरोधी से भी प्रशंसा करवा लेते हैं और शत्रु के हृदय में भी अपना स्थान बना लेते हैं। इतिहास के जानकारों को भलीभाँति मालूम है कि बादशाह अकबर के लिए महाराणा प्रताप सिर दर्द बने हुए थे। भारत-वर्ष में अगर कोई अकबर का प्रबल से प्रबल विरोधी था तो वह प्रताप ही थे। मगर अन्य राजाओं की अपेक्षा अकबर प्रताप का सब से अधिक आदर करता था। ठीक ही कहा गया है—

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति ।

अर्थात्—गुणज्ञ जनों के लिए ही गुण, गुण होते हैं। गुणों की कद्र गुणवान् ही करता है। जो गुणों की पहचान नहीं कर सकता, वह गुणी का आदर भी नहीं करता। कुंजड़ा क्या जाने हीरे की पहचान !

गुण क्या चीज़ है ? संक्षेप में कहा जा सकता है कि अठारह पापों से निवृत्ति ही गुण है और अठारह पापों का सेवन ही अवगुण अथवा दोष कहलाता है।

एक हाकिम साहब आये और मुझसे पूछने लगे--धर्म किसे कहते हैं ? मैं ने कहा--धर्म को समझने के लिए पाप को पहले समझ लेना चाहिए। पाप समझ में आ जाएगा तो धर्म को समझने में कठिनाई नहीं होगी। हिंसा, झूठ, चोरी, व्यभिचार, लोभ, कपट, लड़ाई, किसी को कलंक लगाना, किसी की बुराई करना, चुगली खाना, धर्म की बात सुन कर अप्रसन्न होना, पाप की बात सुनकर प्रसन्न होना, दूसरों को धोखा देना, पराये हक़ का अपहरण करना, आदि-आदि पाप के कार्य हैं। कहो भाई पाप समझ में आ गया ?

'जी महाराज !'

तो अब धर्म को समझना आसान है। पाप कार्यों का परित्याग करना ही धर्म है। किसी भी प्राणी को मन से, वचन से अथवा काया से कष्ट न पहुँचाना; अर्थात् मन से किसी का अनिष्ट न सोचना, दुःख देने का विचार न करना, अमुक को हानि पहुँच जाय या अमुक मर जाय या अमुक को मार डालूँ, इस तरह का मानसिक विचार न आने देना धर्म है। सत्य, हित, मित और प्रिय वचन ही बोलना और अप्रिय वचन न बोलना धर्म है। काय से किसी प्राणी के लिए कष्ट कर प्रयत्न न करना और सुख-सुविधा पहुँचाना धर्म है। इस प्रकार पहले कहे हुए पाप कार्यों के विपरीत शुभ कार्य करना धर्म है। जैसे असत्य न बोलना, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना, समभाव रखना, सन्तोष धारण करना, क्रोध न करना, मान-

अभिमान न करना, छल-कपट न करना आदि पाप-विरुद्ध प्रवृत्ति धर्म है।

कोई समझता हो कि महाराज के पास जाने में ही धर्म है या अमुक स्थान में जाने पर ही धर्म हो सकता है, अन्यथा नहीं; यह बात नहीं है। धर्म तो आत्मा का गुण है। जहाँ कहीं आत्मा रहेगी वहीं धर्म रह सकता है। आवश्यकता है सिर्फ पाप व्यापार के परित्याग की। अगर तुम्हारा अन्तःकरण पापरहित है, पवित्र है, कषाय के कालुष्य से कलंकित नहीं है; उसमें प्रशस्त भावनाओं की लहरें उल्लसित होती रहती हैं, तो तुम कहीं भी न जाओ, तुम धर्मात्मा हो! हमारा कभी यह दावा नहीं रहा कि हमारे पास आने से ही तुम धर्मात्मा बनोगे और अन्यथा नहीं बन सकोगे। हमारे पास पैर भी न रक्खो, मगर पापों का परित्याग कर दो तो तुम्हारी मुक्ति हो जाएगी।

संसार में प्रायः तीन प्रकार के लोग होते हैं। पहले वे जो धर्म के मार्ग को जानते हैं और उसी के अनुसार आचरण भी करते हैं। ऐसे लोगों को उपदेश देने की आवश्यकता नहीं है। भगवान् ने भी आचारांगसूत्र में फर्माया है:—

उद्देसो पासगस्स णत्थि।

जो आत्मदर्शी हैं, जिन्होंने तत्त्व के मर्म को पहचान लिया है, उनके लिए उपदेश की आवश्यकता नहीं है।

दूसरे प्रकार के लोग वह हैं जो जानते तो हैं, मगर पाप का आचरण करते हैं। जो जानते हैं कि यह ज़हर है, फिर भी उसे खाते हैं। ऐसे लोगों को उपदेश देना व्यर्थ है। उन पर उपदेश को क्या प्रभाव होने वाला है?

तीसरे प्रकार के लोग वह हैं जो अपनी अल्पज्ञता को स्वीकार करते हैं, जो कल्याण का मार्ग समझना चाहते हैं, जो जिज्ञासु और मुमुक्षु हैं जिनके हृदय में सर्वज्ञ वीतराग की वाणी को सुनने और समझने की अभिलाषा है, जिनमें भद्रता है। ऐसे लोग ही धर्मोपदेश के पात्र हैं। उन्हें उपदेश देने से लाभ हो सकता है। मूर्खों और पापियों को उपदेश देना व्यर्थ ही नहीं जाता, बल्कि कभी-कभी तो अनर्थकर भी हो जाता है। नीतिकार कहते हैं—

उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये।
पयःपानं भुजङ्गानां, केवलं विषवर्द्धनम् ॥

साँप को दूध पिलाओगे तो क्या अमृत पैदा होगा? नहीं, उसमें ज़हर ही के रूप में परिणत होगा। साँप उस अमृत को भी विष बना लेगा। इसी प्रकार मूर्खों को उपदेश दिया जाय तो वे उलटे कुपित होते हैं, शान्त नहीं होते। सुन्दर से सुन्दर उपदेश भी उनके लिए अनर्थकर ही सिद्ध होता है।

रास्ते में एक किसान खेत में लट्ठ लेकर खड़ा था। उधर से एक पण्डित निकला। वह काशी से पढ़ कर और अपनी पुस्तकों को बैल पर लाद कर जा रहा था। किसान ने उससे पूछा—तुम कौन हो?

पण्डित—मैं पण्डित हूँ। काशी से पढ़कर आ रहा हूँ।

किसान—अच्छा, पण्डित किसे कहते हैं?

पण्डित—जो आगे-पीछे की सोचकर कहे वह पण्डित कहलाता है।

किसान--ठीक। सोचकर उत्तर दो कि मैं यह लट्ठ तुम्हारी खोपड़ी में, पीठ पर या पैरों में लगाऊँ ? सोच लो, अगली-पिछली सब सोचकर बताओ।

पण्डित ने देखा बुरे फँसे ! तब वह बोला--तू समझा नहीं। मैं तो पण्डित के पास रहने वाला आदमी हूँ।

किसान—अच्छा, तो पण्डित कहाँ है ?

पण्डित—वह थोड़ी देर में आने वाला है, पीछे है। तू यहीं बैठ जा ! इस प्रकार कह कर पण्डित ने अपना पिण्ड छुड़ाया।

भाइयो ! अपना भला चाहने वाले पुरुष को मूर्खों से दूर ही रहना चाहिए। मूर्खों के चक्कर में पड़ जाने पर निकलना कठिन होता है।

एक भजनानन्दी का कंठ बड़ा ही मधुर था। वह सितार पर भजन गाता तो अन्तःकरण से भक्ति का झरना बहा देता था। एक बार वह घर से निकल कर किसी दूसरे गाँव जा रहा था। रास्ते में एक खेत मिला। वहाँ चार--पाँच आदमी बैठे थे और मक्की उगी हुई थी। किसानों ने उसे देख कर आवाज़ दी और बिठलाया। भजनानन्दी विश्राम लेने के लिए उनके पास बैठ गया। किसानों के दिल में, खास तौर से खेतों में जब फसल तैयार खड़ी होती है, उदारता विद्यमान रहती है। अतएव किसानों ने आग्रह करके भजनानन्दी महाशय को कुछ भुट्टे सेक कर खिलाए। भुट्टे खाकर और पानी पीकर वह बहुत प्रसन्न हुआ फिर सोचा-मेरी इनसे न जान न पहचान ! फिर भी इन्होंने मुझे भुट्टे खिलाए हैं और पानी पिलाया है तो

मैं इन्हें एक भजन सुना दूं ! मेरे पास और क्या है ? यह सोच कर भजनानन्दी ने अपना सितार सँभाला और कहा—अच्छा भाइयो, एक भजन सुन लो। वह गाने लगा—

प्रभु के भजन विन कैसे तिरोगे ?
सच कहूँ फिर सोच करोगे !

भजनानन्दी भजन में मस्त हो गया और एक के बाद दूसरी तान छेड़ने लगा। किसान उसका गाना सुनकर सोचने लगे—बेचारा राजी खुशी आया था ! भुट्टे खाए और पानी पीया ! फिर इसे क्या हो गया है कि इतनी देर से अर्राटे कर रहा है ! चिल्लाए जा रहा है !

तब एक किसान ने कहा—मेरी भैंस को भी ऐसा ही रोग हो गया था। वह भी अर्राटे कर रही थी। तब उसे डाम लगाये थे। डाम लगाने से वह अच्छी हो गई थी !

सब ने विचारविमर्श करके भजनानन्दी को दाग देने का निश्चय कर लिया। यह भी तय हो गया कि कौन हाथ पकड़ेगा, कौन पैर पकड़ेगा और कौन सिर पकड़ेगा। भजनानन्दी को पता नहीं था कि उनकी चिकित्सा करने की तैयारियाँ हो रही हैं। वह अपने भजन में मग्न था।

मूर्खों को ज्ञान सुनाओगे तो और क्या परिणाम निक-लेगा ?

गनीमत हुई कि भजन की मधुर ध्वनि सुनकर एक समझदार आदमी उसी समय वहाँ आ पहुंचा। किसानों ने भजनानन्दी के प्रति अतिशय सहानुभूति प्रकट करते हुए उसकी

बीमारी की कथा सुनाई और अपनी चिकित्साप्रणाली का भी परिचय दिया ! यह सुनकर उसने मनमें सोचा-गज़ब हो जाएगा !

सोच-विचार कर उसने किसानों से कहा-डाम लगाने की आवश्यकता नहीं है। मैं इस बीमारी का मंत्र जानता हूँ। कान में फूँकते ही अच्छा हो जाएगा। यह कह कर उसने भजनानन्दी के कान में कहा--

रे गायक ! ये गायन में बड़े, तूं गायन प्रवीण।
ये गाहक कडबीन के, तूं ले बैठा कर वीण ॥

बावले, अपने भजन किसे सुना रहे हो ? लोग तुझे डाम लगाने की तैयारी में हैं। चुप्पी साध लो, अन्यथा दुर्गति होगी। यह तो गायों-भैंसों के प्रेमी हैं और तुम सितार लेकर बैठे हो !

ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को चित्तजी ने सारगर्भित उपदेश दिया; किन्तु परिणाम क्या निकला ? कुछ भी नहीं।

तो आशय यह है कि अयोग्य और अभद्र को उपदेश देने से कोई लाभ नहीं होता। जो कल्याण का मार्ग जानना चाहता हो, उसी को उपदेश देना उचित है। छोटे-से गाँवड़े में बहुमूल्य हीरे और पन्ने लेकर बैठोगे तो कौन खरीदेगा ? इसी प्रकार दान, शील, तप और भावना का लोकोत्तर माल कोई बड़ा जौहरी ही खरीद सकता है। इस माल को खरीदने के लिए कुछ आवश्यक गुण होने चाहिए। जैसे सिंहनी का दूध सोने के पात्र में ही ठहर सकता है, उसी प्रकार वीतराग की वाणी भी सद्गुणवान् सुपात्र में ही ठहर सकती है। भगवान् ऋषभदेव अनन्त गुणों के भण्डार थे। भगवान् के सद्गुणों

का वर्णन आचार्य महाराज ने अत्यन्त रोचक शैली से किया है। वे कहते हैं–दुनिया दोषों को बड़ी उमंग के साथ अपनाती है। अतएव दोषों को रहने की जगह की कमी नहीं है। यह देखकर दोषों को घमंड आ गया कि भगवान् ऋषभदेव हमें नहीं अपनाते–अपने भीतर हमें स्थान नहीं देते तो न सही। हमारे लिए सारा संसार पड़ा है! हम कहीं भी रह जाएँगे। हमारा स्वागत करने वालों की कमी नहीं है। हमें क्या जरूरत है कि हम उनके पास जाएँ! इस प्रकार अभिमान में आकर दोषों ने उनके पास फटकने की कोशिश नहीं की। वे भगवान् से दूर ही रहे। परिणाम यह हुआ कि भगवान् गुणों से ही घिर गए। दोष तो उनमें एक भी नहीं रहा और समस्त गुण समा गये!

ऐसे अनन्त गुणों से विभूषित भगवान् ऋषभदेव को ही हमारा वार-वार नमस्कार हो।

भाइयो! यह सृष्टि सारी गुण-दोषमय है। प्रत्येक वस्तु में कुछ गुण और कुछ अवगुण होते हैं। फिर गुण और दोष में एक विभाजक रेखा खींच देना भी बड़ा कठिन काम है। किसी वस्तु का एक ही धर्म किसी के लिए गुण और दूसरे के लिए दोष बन जाता है। लोक में कहावत प्रसिद्ध है—'किसी को बैंगन वायड़े किसी को बैंगन पथ्य!' एक औषध एक को लाभप्रद सिद्ध होती है तो दूसरे के हानिकारक भी हो जाती है। तो जिसके लिए लाभप्रद है उसके लिए उसमें गुण है और जिसके लिए हानिकारक है उसके लिए वह दोष युक्त है!

इसके अतिरिक्त वस्तु का एक ही धर्म किसी खास सीमा तक तो गुण माना जाता है और जब वही धर्म उस सीमा से आगे बढ़ जाता है तो दोष माना जाने लगता है!

इस प्रकार गुणों और दोषों की कल्पना मनुष्यों की अपनी-अपनी इच्छा और परिस्थिति पर निर्भर है। इस स्थिति में गुण और अवगुण का एक निश्चित विभाजन करना ही कठिन है। किन्तु वास्तविक दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो गुणों और दोषों को स्थिर करना कठिन भी नहीं है। औरों की बात जाने दें और सिर्फ आत्मा के ही सम्बन्ध में विचार करें तो कह सकते हैं कि जो आत्मा का असली रूप स्वभाव है, जो परपदार्थ के संयोग से उत्पन्न नहीं हुआ है, जिसके द्वारा आत्मा का उत्थान और हित होता है, जिसके कारण मनुष्य अपने समाज में आदर सम्मान या प्रशंसा का पात्र बनता है, वह गुण कहलाता है। इसके विपरीत जो आत्मा का स्वभाव नहीं है, जो उपाधि से जनित है और जिसके कारण आत्मा की विशुद्धता घटती और मलीनता बढ़ती है, जिसके कारण आत्मा का पतन होता है, उसे दोष समझना चाहिए।

सद्गुण प्राप्त करना विवेकशील पुरुष का कर्त्तव्य है। सद्गुण प्राप्त करने का अर्थ है अपने असली स्वरूप की ओर आगे बढ़ना। आत्मा का जो भी वास्तविक स्वभाव है, उसे प्राप्त करना ही इस जीवन का परम पुरुषार्थ है। यही जीवन की परमसिद्धि है। इसी में मानव जीवन की कृतार्थता है।

कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि दुर्गुणी लोग गुणवानों की भी निन्दा करते हैं। साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या है, जगत् में सर्वश्रेष्ठ सद्गुणों से सम्पन्न, लोकोत्तर महापुरुष परम वीतराग और सर्वज्ञ-सर्वदर्शी तीर्थङ्कर भगवान् की भी निन्दा करने वाले निकल आते हैं। मंखलीपुत्र गोशालक और जमाली जैसे लोग भगवान् महा-

वीर स्वामी की बुराई करते थे! राम जैसे भद्रशील और मर्यादापुरुषोत्तम पुरुष का विरोधी रावण था। कृष्ण जैसे उत्तम पुरुष के विरोधी कंस और जरासंध मौजूद थे! जब सीता की प्रशंसा होने लगी तो कुछ स्त्रियाँ उन्हें कलंक लगाने को भी खड़ी हो गईं। साधु-सन्तों को किसी से क्या लेना-देना है? वे तप और संयम का अनुष्ठान करते हैं और विरक्त भाव से जगत् में विचरते हैं। फिर भी लोग उनकी बुराई करने पर उतारु हो जाते हैं। कहा है--

खलकर हिय अति ताप विसेखी,
जरहिं सदा परसंपत देखी ॥

तुलसीदासजी कहते हैं कि खल ( दुर्जन ) पुरुष के हृदय में इतना अधिक सन्ताप भरा रहता है कि वह पराई सम्पदा को देखकर जलता है।

भला विचार करो कि अगर दूसरे को पुण्ययोग से विपुल वैभव प्राप्त हुआ है तो तुम्हारी क्या हानि हो गई? दूसरा तुम्हें लूट कर तो वैभवशाली नहीं बना है। उसने पूर्वभव में पुण्योपार्जन किया होगा, दान दिया होगा, दीन-हीन जनों को सान्त्वना और साता पहुँचाई होगी तो आज उसका फल भोग रहा है। तुम्हें वैसा बनने की इच्छा है तो तुम भी वैसे कार्य करो। कोरी ईर्षा करने से क्या लाभ है? ईर्षा करके तो तुम और भी हीन स्थितिमें पहुँचोगे। अपनी अधिक हानि कर लोगे। किन्तु ईर्षालु व्यक्ति इस तथ्य की बात पर विचार नहीं करता। वह कार्य-कारणभाव का ठीक-ठीक विचार नहीं करता और विपरीत मार्ग ही ग्रहण करता है।

सारांश यह है कि खल पुरुष निष्कारण ही गुणी जनों से जलते और उनकी निन्दा करते हैं। किसी ज्ञानवान् विद्वान् पुरुष को देखकर मूर्ख कहता है–अजी, क्या जानता है यह! तुम नहीं जानते, इन्हें मैं जानता हूँ! पोथे घोट कर दिमाग में भर लेने से क्या होता है?

उदारहृदय दानी की कीर्त्ति जब चारों ओर फैलती है तो ईर्षावान् उसे सहन नहीं कर सकता। कहता है–वह तो उड़ाऊ है उड़ाऊ! बाप-दादों का धन पानी की तरह बहा रहा है! खुद कमाए तो पता चले!

इस प्रकार अवगुणी और दोषदर्शी पुरुष किसी भी गुणवान् के गुणों को सहन नहीं करता है। वह गुणों में अवगुणों का आरोप कर देता है और उनकी निन्दा करके सन्तोष मानता है। ऐसा करके वह अपने दोषों को बढ़ाता है। नीतिकार यथार्थ ही कहते हैं—

नागुणी गुणिनं वेत्ति, गुणी गुणिषु मत्सरी।
गुणी च गुणरागी च, विरलः सरलो जनः॥

अर्थात्—जो स्वयं निर्गुण है, वह गुणवान् को समझ ही नहीं पाता और जो गुणी है वह गुणी के प्रति मत्सरता का भाव रखता है। ऐसी स्थिति में गुणी होना और गुणानुरागी होना बड़ा ही कठिन है। दोनों बातें जिसमें पाई जाएँ ऐसा सरल हृदयजन कोई विरला ही होता है!

कहा जा सकता है कि जब निर्गुण गुणी का आदर नहीं करता और गुणी, गुणी, गुणी के प्रति मात्सर्य रखता है, तो र फिगुणी को समझने वाला रहा ही कौन? फिर गुणी के

गुणों का विस्तार कैसे होगा ? इस प्रश्न का उत्तर पहले ही दिया जा चुका है—

यदि सन्ति गुणाः पुंसां, विकसन्त्येव ते स्वयम् ।
न हि कस्तूरिकामोदः शपथेन प्रतीयते ॥

अगर मनुष्य में गुण हैं तो वे अपने आप ही विकसित हो जाएँगे। कस्तूरी में सुगन्ध है तो क्या वह आप ही आप प्रकट नहीं हो जाती ? कस्तूरी में गन्ध की विद्यमानता के लिए शपथ खाने की आवश्यकता नहीं होगी, इसी प्रकार गुणों को प्रकट करने के लिए कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। अतएव हे गुणवान् ! तू चिन्ता मत कर। यह न समझ कि मेरे गुणों का कोई ग्राहक नहीं है तो वे गुण निरर्थक ही हो गए। तेरे गुण तेरे कल्याण के लिए हैं। उनसे तेरी आत्मा ऊँची उठेगी, पवित्र होगी और तुझे जीवन में शान्ति प्राप्त होगी। कोई तेरे गुणों की कद्र करता है तो करे और नहीं करता है तो न करे ! इससे तेरा क्या बनता-बिगड़ता है ? निर्जन वन में विकसित होने वाला कुसुम अपनी नैसर्गिक छटा से सुशोभित होता है और अपने सुचिर सौरभ को दिङ्मण्डल में परिव्याप्त करता है। क्या उसने भी चिन्ता की है कि—हाय ! कोई मुझे गुणग्राहक नहीं मिला ? नहीं, वह ऐसी चिंता नहीं करता। कोई प्रशंसक हो या न हो, उसका स्वभाव खिलना है और सौरभ को बिखेरना है। वह खिलेगा, वह मुस्कराएगा और अपनी महक को प्रसृत करने में किंचित् भी कमी नहीं करेगा। इसी प्रकार तुम भी अपने जीवन के सुमन को विकासित होने दो, सद्गुणों के सौरभ से सम्पन्न बनने दो। तुम्हारे गुण तुम्हारे कल्याण के लिए ही हैं। उनसे कोई लाभ उठाता

हो तो भले उठाए; नहीं उठाता तो भी उन्हें निरर्थक न समझो। यही नहीं, अगर कोई खल तुम्हारे गुणों में दोषों का आरोप करता है; तुम्हारी उदारता को उड़ाऊपन कहता है, तुम्हारे सन्तोष को कायरता या साहसहीनता कहता है, तुम्हारे ब्रह्मचर्य को नपुंसकता बतलाता है, तुम्हारे साहस को हैकड़ी मानता है, और इस प्रकार प्रत्येक गुण को अवगुण के रूप में प्रकट करता है तो भी तुम चिन्ता न करो। सचाई सूर्य के समान है जो मिथ्या के मेघों में सदा के लिए छिपने को नहीं है। वह तो अन्ततः प्रकट होने को ही है। सीता के सतीत्व पर कलंक लगाया गया था किन्तु क्या वह कलंक अन्त तक स्थिर रह सका ? नहीं। वह आग को पानी बना कर प्रकट हो गया और आखिर उस सती को कलंक लगाने वाले ही कलंकित हुए।

भाइयो! स्मरण रक्खो गुण गुण ही रहेंगे और दोष दोष ही रहेंगे। गुणों को दोष बताने वाले व्यर्थ कर्मबंध कर लेंगे। तुम्हारे पास जो गुण हैं उन्हें तुम विकसित करते चलो और गुणी जनों के गुण ग्रहण करते रहो। गुण ग्रहण करते समय यह न देखो कि गुणवान् किस स्थिति का है और किस जाति का है ? जिसमें गुण हैं वह किसी भी जाति का हो और कितनी ही गई-बीती स्थिति में हो, श्रेष्ठ है, आदरणीय है और उसके गुण ग्रहण करने योग्य हैं।

राजगृह नगर में पूणिया नामक एक श्रावक था। पूणिया श्रावक के पिता के पास लाखों मोहरों का धन था; किन्तु वह धन गरीबों को चूस कर इकट्ठा किया गया था— अनीति से उपार्जन किया गया था। अतएव उसने रुपए कह

दिया कि मैं इस धन को अपने पास नहीं रक्खूँगा। रक्त के पैसे से मैं अपने जीवन को कलंकित नहीं करूँगा !

कितना उत्तम आदर्श है ! लोग अपनी सन्तान के लिए ही प्रायः न्याय-अन्याय की अवगणना करके, उचित-अनुचित का विचार न करके, छल-कपट करके और भोलेभाले गरीबों की गर्दन पर छुरी चला करके धन इकट्ठा करते हैं। अगर पुत्र विचारवान् और धर्मप्रिय हो तो वह अपने पिता से स्पष्ट कह सकता है कि मुझे ऐसे धन की आवश्यकता नहीं है। मैं गरीबी में गुज़र कर लूँगा, पर अनीति की पूंजी का उपयोग नहीं करूँगा। आप मेरे लिए अधर्म न कीजिए, अत्याचार न कीजिए, अनुचित उपायों से द्रव्योपार्जन न कीजिए। ऐसा कह-कर विचारवान् पुत्र अपने पिता को पाप से बचा सकता है और दूसरे पिताओं के सामने भी सुन्दर सबक पेश कर सकता है। ऐसा करके पुत्र, अपने पिता के ऋण से किंचित् अंश में उऋण होगा और अपने जीवन को भी पवित्र और आदर्श बना लेगा।

पूणिया श्रावक ऐसा ही विचारवान् पुत्र था। उसने अपने पिता से स्पष्ट कह दिया कि मैं आपकी अधर्म की पूञ्जी का लेश मात्र भी उपयोग नहीं करूँगा। ऐसे आदर्श पुरुष सर्वत्र प्रशंसा के पात्र होते हैं। भगवान् महावीर ने भी उसकी बड़ाई की है। देवों, राजाओं, सेठों और अन्य जनों के समक्ष उसके शील, सन्तोष और सादगी को प्रभु ने आदर्श बतलाया है। धन्य वह पूणिया श्रावक, महाप्रभु जिसकी बड़ाई करते हैं !

पूणिया श्रावक ने भगवान् के पास से बारह व्रत अंगीकार किये थे। उसका जीवन बड़ा ही उत्तम, धर्ममय

और प्रशस्त था। वह संतोष के साथ रुई की पूनिया बनाता और उन्हें वेच कर अपनी जीवनयात्रा व्यतीत करता था। वह प्रतिदिन शुद्ध भाव से सामायिक करता था।

सामायिक दो प्रकार की है—यावज्जीवन की और अल्पकाल की। यावज्जीवन की सामायिक साधुजी पालते हैं और अल्पकालीन श्रावक। यों तो अल्पकालीन सामायिक की कोई काल मर्यादा नहीं, किन्तु सुविधा के लिए उसका समय दो घड़ी निश्चित किया गया है और यही परम्परा अब मान्य है। सामायिक समस्त धर्मक्रियाओं का सार है। आत्मा की शुद्धि समभाव से होती है और समभाव की प्राप्ति ही सामायिक है। संसारी जीव रागद्वेष आदि विषम भावों के कारण ही संसार भ्रमण करता है और जन्म-मरण करके नाना प्रकार की यातनाएँ भोगता है। जब विषमभाव मिटकर आत्मा में समभाव की जागृति होती है तभी आत्मा को सुख की प्राप्ति होती है। समभाव के अभाव में जीव निरन्तर सन्तप्त बना रहता है। समभाव अपूर्व अमृत है। इसी कारण भगवान् वीतराग ने सामायिक करने का विधान किया है और दैनिक आवश्यक क्रियाओं में उसकी गणना की है। पूणिया श्रावक प्रतिदिन सामायिक करके अपनी आत्मा को समभाव से वासित कर रहा था। भाग्य से उसे पत्नी भी अनुकूल प्रकृति की मिली थी। वह भी पूणिया की ही तरह धर्मनिष्ठ और सन्तोषशील थी। इस कारण दोनों का गृहस्थ जीवन आनन्द और शान्ति के साथ व्यतीत हो रहा था।

एक वार पति-पत्नी दोनो बैठ कर अपने जीवन की आलोचना कर रहे थे। सोच रहे थे कि अपने जीवन में कौन-

सी त्रुटियाँ ऐसी हैं जिन्हें तत्काल दूर करना चाहिए ? और कौन-सी ऐसी विशेषताएँ हैं, जिन्हें अधिक बढ़ाना चाहिए ?

वार्त्तालाप के सिलसिले में पूणिया ने कहा-कभी मुनिराजों को आहारदान देने का सौभाग्य प्राप्त होता है, किन्तु हम लोगों ने कभी साधर्मी भाई का भोजन-सत्कार नहीं किया !

वीतराग प्रभु का उपासक सम्यग्दृष्टि श्रावक साधर्मी कहलाता है । सच्चा धर्मात्मा अपने स्वधर्मीय बन्धु को सहोदर भाई के समान प्रेम की दृष्टि से देखता है । सम्यक्त्व के आठ आचारों में वात्सल्य नामक आचार का आशय यही है कि श्रावक अपने स्वधर्मी के प्रति उसी प्रकार का प्रेम प्रदर्शित करे जैसा कि गाय अपने बछड़े पर प्रदर्शित करती है ।

पूणिया श्रावक की पत्नी का हृदय गद्गद हो गया । वह कहने लगी-क्या किया जाय ? सारे दिन में इतनी ही कमाई होती है कि मुश्किल से हम दोनों का पेट भर सकता है !

पूणिया ने कहा हाँ, यह तो सत्य है, मगर एक दिन तुम उपवास कर लिया करो और एक दिन मैं उपवास कर लिया करूँ तो एक आदमी के भोजन की बचत हो जाएगी । उस बचत से हम एक स्वधर्मी को प्रतिदिन भोजन करा सकते हैं !

कोई दूसरी स्त्री होती तो पति की यह सलाह सुनकर आग उगलने लगती । न मालूम कितनी जली-कटी बातें सुनाती ! परन्तु पूणिया की पत्नी भी धर्म के रंग में रँगी हुई थी । उसने प्रसन्नतापूर्वक पति के इस परामर्श को अंगीकार कर लिया । कहा-यह तो और भी अच्छी बात है । स्वधर्मी को भोजन

कराने के साथ-साथ हम लोगों को एकान्तर तपस्या करने का लाभ मिल जाएगा! एक पंथ दो काज हो जाएँगे! इस लाभ को छोड़ना नहीं चाहिए!

बस, दूसरे ही दिन से उन्होंने यह नियम ले लिया कि एक स्वधर्मी को जिमा कर ही पारणा करेंगे! कैसी उज्ज्वल भावना है! आचार्य कहते हैं:—

मिथ्यादृष्टिसहस्रेभ्यो, वरमेको जिनाश्रयी ।
जिनाश्रयिसहस्रेभ्यो, वरमेको ह्यणुव्रती ॥
अणुव्रतिसहस्रेभ्यो, वरमेको महाव्रती ।
महाव्रतिसहस्रेभ्यो, वरमेको जिनेश्वरः ॥
जिनेश्वरसमं पात्रं, न भूतो न भविष्यति ।
अतः पात्रविशेषेण, देयं दानं शुभात्मभिः ॥

अर्थात्—हजारों मिथ्यादृष्टियों की अपेक्षा एक सम्यग्-दृष्टि पात्र श्रेष्ठ है, हजारों सम्यग्दृष्टियों की अपेक्षा एक अणु-व्रती पात्र श्रेष्ठ है हजारों अणुव्रती पात्रों की अपेक्षा एक महाव्रती पात्र उत्तम है और हजारों महाव्रतियों की अपेक्षा एक तीर्थङ्कर भगवान् उत्तम पात्र हैं। तीर्थङ्कर के समान पात्र न कोई हुआ है और न होगा। पुण्यशाली पुरुषों को पात्र का विचार करके धर्मदान देना चाहिए।

भाइयो! यों तो सभी दान उत्तम हैं, किन्तु उन सबमें जीवन की दृष्टि से आहारदान का विशेष महत्त्व है। संसारी जीवों के प्राणों का आधार आहार है। आहार देना एक

प्रकार से जीवन देना है। आहार के अभाव में जीवन नहीं टिक सकता और धर्मक्रियाएँ करने का भी अवकाश नहीं रहता। कहा है—

अन्नदातुरधस्तीर्थ—करोऽपि कुरुते करम् ।
तच्च दानं भवेत् पात्रदत्तं बहुफलं यतः ॥

अन्न का दान करने वाला कितना सौभाग्यशाली है! त्रिलोक के नाथ और देवेन्द्रों के पूज्य तीर्थङ्कर भगवान् भी उसके हाथ के नीचे अपने हाथ करते हैं! आहारदान जब पात्र में दिया जाता है तो उसका विपुल फल होता है! जैसे वड़ का छोटा-सा बीज जमीन में बोया जाता है, किन्तु पानी का संयोग पाकर कालान्तर में वह हजारों को छाया देने वाला विशाल वृक्ष बन जाता है, उसी प्रकार आहारदान देने से पुण्य का बीज भी विशाल रूप ग्रहण करके फल देता है!

पूणिया श्रावक ने आहारदान की इस महिमा को भली-भाँति हृदयंगम किया था। वह प्रतिदिन एक स्वधर्मी बन्धु को आहार कराने लगा और उसके आहार के बाद ही उसने और उसकी पत्नी ने पारणा करने की प्रतिज्ञा कर ली। कई दिन इस प्रकार बीत गए।

एक दिन ऐसा आया कि उन्हें कोई जीमने वाला नहीं मिला। दिन के तीन पहर चले गये, पूणिया श्रावक इधर-उधर जीमने वाले को ढूंढते फिरे, मगर कोई न मिला। अचानक मगधसम्राट् श्रेणिक के पुत्र और मन्त्री अभयकुमार से भेंट हो गई। उन्होंने पूछा--श्रावकजी कैसे घूम रहे हो? तब

श्रावक ने कहा—आज अभी तक पारणा नहीं हुआ, क्योंकि कोई स्वधर्मी जीमने वाला नहीं मिला है।

अभयकुमार पूणिया की धर्मभावना की मन ही मन प्रशंसा करते हुए बोले—चलो, मैं चलता हूँ।

अभयकुमार जैसे वैभवशाली राजकुमार ने निर्धन पूणिया के घर जाकर बड़ी प्रीति से भोजन किया। जैसे कृष्णजी ने विदुर के घर भोजन किया था, उसी प्रकार अभयकुमार ने पूणिया के घर भोजन किया। सचमुच महान् पुरुष भाव के भूखे होते हैं, व्यंजनों के भूखे नहीं होते।

अभयकुमार ने उत्तम से उत्तम और स्वादिष्ठ से स्वादिष्ठ भोजन किया होगा, पर प्रीति और भावना के अनूठे रस से परिपूर्ण भोजन जैसा उस दिन किया, शायद ही कभी किया हो। भोजन के पश्चात् वे राजमहल गये और राजा श्रेणिक को पूणिया श्रावक का परिचय दिया। राजा ने बुला कर पूणिया से कहा—हम आपको नगर सेठ की पदवी देना चाहते हैं!

पूणिया ने सरलभाव से कहा—महाराज! मुझे किसी उपाधि की चाह नहीं है। मैं बाहर की झंझटों में नहीं पड़ना चाहता। सामायिक करता हूँ और मगन रहता हूँ। मुझे कृपा कर इन उपाधियों से दूर ही रहने दीजिए।

राजा ने फिर आग्रह नहीं किया। उन्होंने कहा—मैंने बहुत धर्मात्मा देखे हैं, परन्तु आपके समान सन्तोषशील और निष्काम श्रावक नहीं देखा। मेरे राज्य की शोभा वैभवशाली सेठों से नहीं, आप जैसे सन्तोषी धर्मात्माओं से है।

भाइयो ! राजा श्रेणिक गुणग्राही था। उसने अन्तःकरण से पूणिया की प्रशंसा की, आदर-सत्कार किया ! उसके सद्-गुणों की प्रशंसा की। आप भी गुणग्रहण करेंगे तो गुणवान् और प्रशंसा के पात्र बन जाएँगे पैसा-पैसा करके हजारों और लाखों की सम्पत्ति इकट्ठी करते हो तो थोड़े-थोड़े गुण ग्रहण करके गुणी भी बनो। यह तो जानते ही हो कि अनन्त काल तक इन तिजोरियों के पहरेदार बन कर नहीं बैठे रहोगे। यह सब छोड़ कर जाना होगा और कोई नहीं कह सकता कि कब चल देना होगा ! इसलिए मेरी राय मानो तो कुछ सद्गुणों का संग्रह कर लो। वह तुम्हारी महायात्रा के समय काम आएँगे। आगे के जीवन का सुख-दुःख इस जीवन की भलाई-बुराई पर ही निर्भर रहेगा। इसलिए भ्रम को भंग करो, विवेक के नेत्रों को खोलो और आगे की सोचो। इस प्रकार विवेकयुक्त होकर जीवन-यापन करोगे तो तुम्हारी आत्मा में सद्गुणों का वास होगा और यह जीवन भी सुन्दर और वह जीवन भी सुन्दर बना लोगे और यहाँ और वहाँ आनन्द के भागी होओगे। तुम्हारे सद्गुणों के सौरभ से संसार महक उठेगा।

१-१-४६ }
पाली }

## ११

# धम्मस्स विणओ मूलं

स्तुतिः—

> तुभ्यं नमस्त्रिभुवनार्तिहराय नाथ !
> तुभ्यं नमः क्षितितलामलभूषणाय ।
> तुभ्यं नमस्त्रिजगतः परमेश्वराय,
> तुभ्यं नमो जिन ! भवोदधिशोषणाय ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि–हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

हे नाथ ! आप तीनों जगत् के प्राणियों की आर्ति अर्थात् चिन्ता एवं पीड़ा को नष्ट करने वाले हैं। आपको नमस्कार हो ! प्रभो ! आप इस पृथ्वीतल के निर्मल आभूषण हैं। आप को नमस्कार हो ! भगवन् ! आप तीनों लोकों के परमेश्वर हैं।

आपको नमस्कार हो। हे जिनेन्द्र ! आप जन्म-मरण रूप संसार का शोषण करने वाले हैं--भवभ्रमण का अन्त करने वाले हैं। आपको नमस्कार हो।

भाइयो ! यहाँ आचार्य महाराज ने आदिनाथ भगवान् को पुनः पुनः नमस्कार करके वन्दना-नमस्कार के महत्त्व को भी प्रकट किया है। उन्होंने यह व्यक्त किया है कि जिसे जिन गुणों की प्राप्ति करनी है, उसे उन गुणों से मंडित महापुरुष के प्रति हार्दिक विनम्रता या विनय का भाव रखना चाहिए। गुणवान् गुणों का प्रतिनिधि होता है, अतएव गुणों का आदर करने के लिए गुणवान् का आदर-सन्मान करना चाहिए।

संसारी जीव नाना प्रकार की चिन्ताओं के पाश में ग्रस्त है। उसके जीवन के समस्त प्रयास अपनी विविध प्रकार की चिन्ताओं का निवारण करने के लिए ही होते हैं। रात-दिन एक मात्र अपनी चिन्ताओं की पूर्त्ति के विराट आयोजन में ही संलग्न है। मगर प्रायः देखा जाता है कि उसके जीवन का तो अन्त आ जाता है किन्तु चिन्ताओं का अन्त नहीं आता। किसी प्रकार एक चिन्ता समाप्त होती है तो अनेक चिन्ताएँ उसका स्थान ग्रहण कर लेती हैं। मनुष्य फिर नये सिरे से प्रयत्न करता है और फिर चिन्ताओं को दूर करता है और फिर नूतन चिन्ताओं का शिकार बन जाता है।

यह बात इतनी सुगम है कि प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन पर थोड़ा-सा दृष्टिनिक्षेप करते ही इसे समझ सकता है। सभी का अनुभव इस संबंध में प्रायः समान है। किन्तु प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस स्थिति का कारण क्या है ? चिन्ता निवारण का मनुष्य का प्रयास विपरीत फलदायक क्यों साबित होता है ?

इस प्रश्न का उत्तर खोजने के लिए सही विचारों में आना चाहिए। बात यह है कि जब कारण अनुरूप होते हैं तभी कार्य की उत्पत्ति होती है। विपरीत कारण जुटा कर कोई कार्य सिद्धि नहीं कर सकता। चने खाकर प्यास बुझाने की चेष्टा विपरीत चेष्टा है, बालचेष्टा है। इस चेष्टा से प्यास बुझेगी नहीं, प्रत्युत बढ़ेगी ही। इसी प्रकार चिन्ता निवारण के लिए किये गये प्रतिकूल उपायों से चिन्ताओं की वृद्धि ही हो सकती है, उनका निवारण नहीं हो सकता।

विचार करना चाहिए कि प्राणी के अन्तःकरण में नित्य नूतन चिन्ताएँ क्यों उत्पन्न होती है? चिन्ता उत्पत्ति का मूल कारण है परपदार्थों की अभिलाषा। जीव अपने स्वरूप में सन्तुष्ट न होकर जड़ पदार्थों की इच्छा करता है और उस इच्छा को बढ़ाता जाता है। बस, इच्छाओं की वृद्धि ज्यों-ज्यों होती है, चिन्ताएँ भी बढ़ती जाती हैं। अतएव चिन्ताओं को दूर करने का सहज उपाय है परपदार्थों के प्रति निस्पृह वृत्ति धारण करना—अपने आपमें संतुष्ट रहना।

नव निधियों और चौदह रत्नों का अधिपति चक्रवर्त्ती संसार की सर्वोत्तम समृद्धि पाकर भी चिन्ता से मुक्त नहीं होता। यही नहीं, बल्कि साधारण गृहस्थ की अपेक्षा उसकी चिन्ताएँ अधिक गम्भीर और व्यापक होती है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि निश्चिन्त बनने के लिए निष्परिग्रह बनना चाहिए। भगवान् आदिनाथ के पावनतम चरणों की शरण लेने वाला ही सब प्रकार की आर्त्ति और चिन्ता से मुक्त हो सकता है।

भाइयो! नमस्कार करने की बड़ी महिमा है। शास्त्र में कहा है—

प्रश्न—वन्दनएणं भंते ! जीवे किं जणयइ ?

उत्तर—वन्दनएणं नीयागोयं कम्मं खवेइ ।
उच्चागोयं कम्मं निबंधइ ।
सोहग्गं च णं अपडिहयं आणाफलं निव्वत्तेइ ।
दाहिणभावं च णं जणयइ ॥

अर्थात्—प्रश्न—हे भगवन् ! वन्दना करने से जीव को क्या फल होता है ?

उत्तर—(१) वन्दना करने से नीचगोत्र कर्म का क्षय होता है ।
(२) उच्चगोत्र कर्म का बन्ध होता है ।
(३) अव्याहत सौभाग्य की प्राप्ति होती है ।
(४) दाक्षिण्य भाव प्राप्त होता है ।

धर्मभाव से युक्त होकर तीन बार उठ-बैठ कर वन्दना करने का विधान किया गया है । ऐसी वन्दना करने से मनुष्य नरकगति, तिर्यञ्चगति, एवं निंद्य समझी जाने वाली मनुष्य जातियों में जन्म लेने से बच जाता है । उसे परम सौभाग्य की प्राप्ति होती है ।

सौभाग्य कौन नहीं चाहता ? सभी सौभाग्यशाली बनने की इच्छा रखते हैं, किन्तु सौभाग्यशाली बनने का जो उपाय ज्ञानी पुरुषों ने बतलाया है, उसको प्रयोग में नहीं लाना चाहते ! मनुष्य अकड़ कर रहना चाहता है, किसी गुणवान् के प्रति विनम्रता की वृत्ति नहीं धारण करना चाहता, फिर भी यह इच्छा करता है कि उसे सुख-सौभाग्य की प्राप्ति हो ! बंबूल बोकर

आम के फल पाने की इच्छा करने से क्या इच्छापूर्त्ति होगी ? नहीं। ऊँची जाति और सुख-सौभाग्य पाने के लिए प्रभु के चरणों में विनम्र भाव से मस्तक झुकाना चाहिए। प्रभु के मार्ग का अनुसरण करने वाले निर्ग्रन्थ मुनियों के चरणों की वन्दना करनी चाहिए। शास्त्र का यही विधान है।

नमस्कार करना एक महत्त्वपूर्ण तप है और ऐसा तप है कि पचीस उपवास भी उसकी तुलना नहीं कर सकते। नमस्कार में असाधारण चमत्कार है। यही कारण है कि प्रथमदेवलोक के इन्द्र शक्रेन्द्रजी भी भगवान् के चरणों को नमस्कार करने के लिए आते हैं।

देवताओं को पल भर की फुर्सत नहीं है। तुम किसी सुन्दर सिनेमा को भीतर बैठकर देख रहे होओ और उस समय कोई किसी प्रयोजन से बाहर बुलावे तो क्या तुम्हारी जाने की इच्छा होती है ? तब देवता तो ३२ प्रकार के नाटक देखने में निमग्न रहते हैं। किन्तु उस-अनूठे आनन्द को त्याग करके भी भगवान् के पास आते हैं। आपसे पूछा जाय कि कल व्याख्यान में क्यों नहीं आये, तो आप कहेंगे-काम हो गया ! मगर काम क्या हो गया निकाम हो गया !

आपने भगवतीजी शास्त्र का श्रवण किया है ? सच्चा श्रावक समझता है कि वीतराग की वाणी सुनना और सत्सं-गति करना ही सबसे ऊँचा अर्थ है, और इसके सिवाय दुनिया के सब काम अनर्थ हैं !

भाइयो ! यह केवलियों के वचन हैं। नमस्कार करना बड़ा धर्म है। विनय धर्म का माहात्म्य साधारण नहीं है। शास्त्र में कहा है—

मूलाउ खंधप्पभवो दुमस्स,
खंधाउ पच्छा समुविंति साहा।
साहप्पसाहा विरुहन्ति पत्ता,
तओ सि पुप्फं च फलं रसो य॥

एवं धम्मस्स विणओ मूलं परमो से मुक्खो।
जेण कित्तिं सुअं सिग्घं, नीसेसं चाभिगच्छइ॥

अर्थात्—जिस प्रकार वृक्ष के मूल से स्कन्ध की उत्पत्ति होती है, पश्चात् स्कन्ध से शाखाएँ उत्पन्न होती हैं, शाखाओं से टहनियाँ पैदा होती हैं, पत्ते आते हैं और फिर पुष्प, फल और रस उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार धर्म का मूल विनय है और उसका अन्तिम फल मुक्ति है। विनय से कीर्त्ति मिलती है और सम्पूर्ण श्रुतज्ञान का लाभ होता है।

विनय को धर्म का मूल बतलाया गया है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य के अन्तःकरण में जब तक विनय का विकास नहीं होता तब तक धर्म का भी विकास नहीं हो सकता। विनीत पुरुष ही धार्मिक हो सकता है। विनय के बिना धर्म की कल्पना करना वैसा ही है जैसे बिना नींव के महल की कल्पना करना या बिना जड़ के वृक्ष की कल्पना करना।

विनय के बिना धर्माचार्य की आराधना नहीं हो सकती। शिष्य कदाचित् शास्त्रों में पारंगत हो, किन्तु उसमें यदि विनय की वृत्ति नहीं है तो उसका ज्ञान निरर्थक है, उससे कोई लाभ नहीं होता। बल्कि अविनीत का ज्ञान उलटा हानिकारक होता है। जैसे बालक के हाथ में पड़ी हुई तलवार उसके लिए घातक

होती है, उसी प्रकार अभिमानी और अविनीत पुरुष को ज्ञान भी उसके लिए हानिप्रद सिद्ध होता है। उसके लिए अर्थसाधक और कल्याणकारी शास्त्र भी अनर्थकर और अकल्याणकारी साबित होता है। वह शास्त्र भी शस्त्र बन जाता है। अतएव प्रत्येक कल्याणकामी साधक का सर्वप्रथम कर्त्तव्य यही है कि वह विनीत बने, अपने धर्मगुरु, ज्ञानदाता एवं उपकारी के प्रति विनम्र होकर रहे। मोक्ष के आकांक्षी को चाहिए कि वह अपने गुरु को प्रसन्न एवं सन्तुष्ट रक्खे। विनय सब सद्गुणों का आधार है। विनय सेही मनुष्य सद्गुणों का पात्र बनता है। नीतिज्ञ जन भी कहते हैं—

विनयात् याति पात्रताम्।

अर्थात्--विनय से ही पात्रता आती है।

विनीत साधक सदैव गुरु के आदेश के अनुसार व्यवहार करता है। गुरु की आज्ञा स्वाध्याय करने की हो तो स्वाध्याय करता है, वैयावृत्य करने की हो तो वैयावृत्य करता है और निश्शंक भाव से यही समझता है कि गुरु जो कहते हैं वह सब निर्जरा के लिए ही है।

भाइयो! यह धर्म चक्रवर्त्तियों का धर्म है; मँगतों और भिखारियों का नहीं। न जाने किस पुण्य के उदय से यह तुम्हें मिल गया है। इस धर्म को पहले पालती थीं रानियाँ और अब रह गईं सेठानियाँ! यह वासुदेवों और बलदेवों का धर्म था! उनकी महारानियों का धर्म था! श्रीकृष्णजी की रानियोंने दीक्षा लेने की इच्छा की तो पहले अपने स्वामी–त्रिखंड के नाथ–से आज्ञा ली और आज्ञा मिल जाने पर ही दीक्षा धारण की।

इस प्रकार आज्ञा बड़ा धर्म है। आज्ञा भी विनय का ही एक रूप है। भगवान् की आज्ञा के बाहर मास-मास खमण की तपस्या करके शरीर को सुखा लिया जाय तो भी आत्मा का कल्याण नहीं होता। सर्वज्ञ का कथन है कि आज्ञा-बाहर की क्रिया करने से मोक्ष नहीं मिलता। श्रीमदाचारांगसूत्र में कहा है—

दुव्वसु मुणी अणाणाए, तुच्छए गिलाए वत्तए,
एस वीरे पसंसिए। अच्चेइ लोयसंजोगं एस णाए पवुच्चइ॥

—प्र. श्रु. द्वि. अ. छठा उ.

अर्थात्—जो भगवान् की आज्ञा में न रह कर स्वेच्छा से आचरण करता है, वह मुनि मोक्षगमन के योग्य नहीं है। वह सम्यग्ज्ञान आदि से शून्य है। जब कोई श्रावक आदि उससे कुछ संशयात्मक प्रश्न पूछता है तो वह अज्ञान के कारण उत्तर देने में समर्थ नहीं होता। इस कारण उसके मन में ग्लानि उत्पन्न होती है। इसके विपरीत जो पुरुष भगवान् की आज्ञा में रह कर यथायोग्य आचरण और प्ररूपणा करता है, वही वीर-कर्मशत्रुओं का विनाश करने में समर्थ-प्रशंसनीय होता है। वह लौकिक संयोगों को लांघ जाता है-बन्धनों को तोड़ फेंकता है। यही आत्महित का सन्मार्ग है।

इस प्रकार आज्ञानुवर्त्ती होकर व्यवहार करने वाले किस प्रकार अपना कल्याण करते हैं? इसके ज्वलंत उदाहरण शास्त्रों में विद्यमान हैं। महासती मृगावती का नाम आपमें से प्रायः सभी ने सुना होगा। वह कितनी विनीत और आज्ञा-वर्त्तिनी थीं और उसका उन्हें क्या फल मिला, यह बात उनकी जीवन घटना से सहज ही समझ में आ जाती है।

एक बार मृगावतीजी भगवान् महावीर के समवसरण में गईं। उस दिन समवसरण में साक्षात् चन्द्रदेव और सूर्यदेव भी उपस्थित हुए थे। अतएव दिन-रात का कुछ पता नहीं लगता था। मृगावतीजी दिन समझ कर वहाँ बहुत देर तक बैठी रहीं। उनकी साथ वाली अन्य सतियाँ चली गई थीं। जब चन्द्र और सूर्यदेव चले गये तो ठीक समय का पता चला। उस समय बहुत विलम्ब हो चुका था और सब जगह अँधेरा छा गया था! मृगावतीजी सोचने लगीं—गज़ब हो गया! मुझे समय का कुछ ख़याल ही नहीं रहा और मैं बैठी ही रही गई!

इतनी देर—संध्या पड़ जाने-तक उपाश्रय से बाहर रहना साध्वी-समाचारी से विरुद्ध था। किन्तु अब क्या हो सकता था? वह मन ही मन पश्चात्ताप करती हुई सीधी अपनी गुरुणी चन्दनबालाजी के पास पहुँचीं। चन्दनबालाजी ने समाचारी के उल्लंघन के लिए मृगावतीजी को फटकार बताई और कहा—बस, यहीं दरवाजे पर खड़ी रहो। यही तुम्हारे समाचारी के अतिक्रमण का प्रायश्चित्त है।

मृगावती कोई साधारण श्रेणी की महिला नहीं थीं। वह कौशाम्बीनरेश की रानी थीं और विपुल वैभव तथा प्रचुर भोगोपभोग की सामग्री का परित्याग करके, आत्मकल्याण के हेतु साध्वी बनी थीं। मगर उन्हें अहंकार छू तक नहीं गया था। साधुजीवन में प्रवेश करने के बाद राजा-रंक का कोई भेद नहीं रह जाता। वहाँ सब साधक एक ही श्रेणी के होते हैं। ज्ञान और चारित्र की तरतमता के आधार पर भले ही श्रेणी-भेद हो, पर किसी भी सांसारिक आधार पर भेद नहीं होता। मृगावतीजी तो अपने पूर्वजीवन को भूल ही गई थीं। अतएव

एक अतिशय विनीत शिष्या की भाँति उन्होंने चन्दनबाला के आदेश को अंगीकार किया और द्वार पर खड़ी हो गईं।

मृगावती अपने आपको धिक्कारने लगीं कि मैंने जिस समाचारी को परमश्रेयस्कर समझा है, आज प्रमादवश उसका उल्लंघन हो गया! आज मुझे परमदयावती गुराणीजी का उपालम्भ सुनने का अवसर आया! मेरी भूल के कारण उन्हें यह कहना पड़ा कि खड़ी रहो! मेरे निमित्त से उन्हें कष्ट हुआ है-उनकी शान्ति और समाधि में विघ्न पड़ा है! मैं कितनी प्रमादिनी हूँ!

इस प्रकार विचार करते-करते उनकी परिणामधारा ने निर्मल और निर्मलतर रूप धारण किया। कर्मों के आवरण क्षीण हो गए और उन्हें सम्पूर्ण ज्ञान-केवलज्ञान-की प्राप्ति हो गई!

प्रवर्त्तिनी चन्दनबालाजी पास ही सो रही थीं। उसी समय एक काला सर्प उधर होकर निकला और उनकी ओर जाने लगा। मृगावतीजी ने चन्दनबाला का हाथ, साँप से बचाने के लिए दूसरी ओर सरका दिया! उनकी निद्रा भंग हो गई। हाथ सरकाने का कारण पूछने पर मृगावतीजी ने सर्प वाली बात बतलाई। चन्दनबालाजी ने आश्चर्यान्वित होकर कहा—इस घोर अंधकार में तुम्हें काला सर्प कैसे दिख गया?

मृगावती—आपके ही प्रताप से!

चन्दनबाला—क्या विशेष ज्ञान उत्पन्न हो गया है?

मृगावती—जी हाँ, आपके प्रताप से!

चन्दन०—प्रतिपाती या अप्रतिपाती?

मृगावती—अप्रतिपाती !

चन्दनबाला समझ गई कि मृगावती अलौकिक केवल-ज्ञान की स्वामिनी हो गई हैं। फिर उन्होंने कहा—क्षमा करना सती, मेरे अपराध को ! मैं ने तुम्हारी आत्मा की उज्ज्वलता को परख नहीं पाया था ! यद्यपि मेरे मन में तुम्हारे प्रति कषाय का लेश भी नहीं था, बल्कि हितकामना ही थी, फिर भी तुम्हें दंड दिया है ! यह मेरी अल्पज्ञता का ही फल है ! इस प्रकार आत्मालोचना और आत्मनिन्दा करते-करते चन्दनबालाजी को भी केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई !

भाइयो ! बताओ कब से तुम जन्म-मरण कर रहे हो ? कहीं आदि है ? 'नहीं, गुरुदेव !'

ठीक है। अनादि काल से संसार का प्रत्येक प्राणी जन्म-मरण के अप्रतिहत प्रवाह में बह रहा है। लोक का ऐसा कोई प्रदेश नहीं, जहाँ इस जीव ने जन्म-मरण न किया हो। मगर आज तक इसका कल्याण नहीं हुआ। कभी सोचते हो कि इसका क्या कारण है ? इसका कारण विनयधर्म की आराधना न करना है।

विनयधर्म हितकारी इसको धार धार ! ॥ टेर ॥

भाइयो ! विनयधर्म हितकारी है, सुख देने वाला है, जन्म-मरण मिटाने वाला है और निराबाध आनन्द देने वाला है ! विनय से परलोक तो सुधरता ही है, यह लोक भी सुधरता और आनन्दमय बनता है। विनीत की सर्वत्र प्रशंसा होती है। उसमें अनेक गुण आ जाते हैं।

विनय को समस्त गुणों का मूल बतलाते हुए ग्रन्थकार कहते हैं—

विनयायत्ताश्च गुणाः सर्वे, विनयश्च मार्दवायत्तः ।
यस्मिन्मार्दवमखिलं, स सर्वगुणभाक्त्वमाप्नोति ॥

अर्थात्—सभी गुण विनय के अधीन हैं। किसी भी गुण की प्राप्ति के लिए विनयशीलता धारण करनी पड़ती है। क्या लौकिक विषयों में और क्या लोकोत्तर विषय में-विना विनय के प्रगति नहीं होती। किसी भी कला को सीखने के लिए उस कलाविद् का विनय करना पड़ता है।

जैसे पानी नीचे की ओर ही वहता है, ऊपर की ओर नहीं, उसी प्रकार गुण विनयशील व्यक्ति में ही आते हैं। अभिमान के कारण जिसकी गर्दन ऊँची वनी रहती है, उसमें गुण नहीं आ सकते।

ग्रन्थकार कहते हैं कि सभी गुण विनय के अधीन हैं, किन्तु विनय मार्दव अर्थात् निरहंकारवृत्ति पर निर्भर है। जिसके चित्त में कोमलता होगी, उसी में विनय भाव आएगा और वह सब गुणों का पात्र वन जाएगा। शास्त्रकारों ने विनय-धर्म की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। विनय के विषय में शास्त्रों में इतना अधिक कहा गया है कि उसका संकलन किया जाय तो एक अच्छा वड़ा पोथा वन सकता है। उसको संक्षेप में कहें तो कह सकते हैं कि—

विवत्ती अविणीयस्स, संपत्ती विणियस्स च ॥

अर्थात्--अविनीत को विपत्ति और विनीत को सम्पत्ति प्राप्त होती है।

विनय एक आभ्यन्तरवृत्ति है। उसका निवास अन्तः-करण में होता है। किन्तु बाह्य व्यवहार के द्वारा वह अभिव्यक्त होती है। यथा-गुरु महाराज चाहे देखें या न देखें, उनके आते ही खड़ा हो जाना, बड़ी दीक्षापर्याय वाले मुनि के आने पर खड़ा हो जाना जिज्ञासा होने पर हाथ जोड़ कर विनम्रता से प्रश्न पूछना, गुरु द्वारा आह्वान करने पर अपने आसन से उठ कर उनकी बात सुनना, उनके आगे या बराबरी पर न बैठना, आगे-आगे न चलना, गुरु किसी से वार्त्तालाप कर रहे हों तो बीच-बीच में न बोलना, गुरु के चेहरे से उनके भावों को समझ कर उनकी इच्छा की पूर्त्ति करना, आदि-आदि त्यागी मुनियों की विनीतता के चिह्न हैं।

संवत् १९५६ की बात है। उस समय पूज्य चौथमलजी महाराज थे। एक बार नन्दलालजी महाराज के साथ मैं बैठा था। पूज्यजी उधर पधारे तो नन्दलालजी महाराज खड़े नहीं हुए। पूज्यजी उस समय चुपचाप चले गए। बाद में उन्होंने पूछा-मेरा आना तुम्हें मालूम हुआ था?

'जी हाँ, मालूम तो हुआ था!'

'तो फिर तुमने क्यों नहीं कहा-महाराज, पधारिए?'

पूज्यजी ने नन्दलालजी महाराज को उपवास का दंड दिया!

साधारण मनुष्य शंका कर सकता है कि पूज्यजी क्या

प्रतिष्ठा के भूखे थे ! पर उसका ऐसा सोचना भ्रमपूर्ण है। अपनी प्रतिष्ठा के लिए नहीं, किन्तु विनयमूलक जैनधर्म की प्रतिष्ठा के लिए, साधुसमाचारी की समीचीन मर्यादा को अक्षुण्ण रखने के लिए और जिन मुनियों ने आत्मकल्याण के निमित्त आचार्य की शरण ग्रहण की है, उनको सन्मार्ग पर चलाने के लिए, और मंगल-मार्ग बतलाने के लिए आचार्य को ऐसा अनुशासन करना पड़ता है। वे ऐसा न करें तो अपने कर्त्तव्य से च्युत हो जाएँ और अपने आश्रित मुनियों को भी कर्त्तव्य-च्युत बनाने में सहायक हो जाएँ !

डाक्टर कटुक से कटुक औषध पिलाता है और आवश्यकता होने पर चीरफाड़ भी करता है। कभी कभी तो समूचे अंग को काट कर फेंक देता है। यह सब बीमार के कल्याण के लिए ही तो करता है। ऐसा करके ही वह अपने कर्त्तव्य का पालन कर सकता है। इसी प्रकार गुरु शिष्य को जो दंड या प्रायश्चित्त देता है, वह उसी की शुद्धि के लिए देता है। अतएव शिष्य को ऐसे अवसर पर यह नहीं सोचना चाहिए कि गुरुजी ने यों कह दिया और त्यों कह दिया। उसे गुरु का उपकार मानना चाहिए कि उन्होंने दोष की शुद्धि करके आत्मा को निर्मल बना दिया।

विनय की जैसी महत्ता धार्मिक क्षेत्र में है, वैसी ही गार्हस्थिक क्षेत्र में भी। पुत्र को पिता पर, लघुभ्राता को ज्येष्ठ भ्राता पर, इसी प्रकार प्रत्येक छोटे को बड़े के प्रति विनयभाव रखना चाहिए। ऐसा करने से गार्हस्थजीवन आनन्दमय, शान्तिमय, रसमय और सुखमय बनता है। विनयवान् के जीवन का विकास होता है और विनयविहीन को विकास अवरुद्ध हो जाता है। इस विषय में एक उदाहरण प्रसिद्ध है।

एक सुनार के लड़के ने कोई आभूषण बनाया। उसने अपने पड़ौसी को आभूषण दिखलाया तो उसने कहा--पाँच रुपये के लायक गढ़ाई है। लेकिन उसके पिता ने देखकर कहा--उँह, अभी कुछ भी नहीं !

लड़के ने उस आभूषण को तोड़ कर फिर कुछ सुन्दर बनाया। पड़ौसी ने अब की बार दस रुपये के लायक गढ़ाई बतलाई। मगर जब पिता को दिखलाया तो उसने वही पहले वाली बात कही--उँह, अभी तो कुछ भी नहीं है !

लड़के ने फिर आभूषण को तोड़कर तीसरी बार बनाया। इस बार उसकी गढ़ाई पचास रुपया कूती गई ! मगर बाप ने कहा---अभी बहुत कसर है ! कुछ अधिक परिश्रम करो।

इस बार लड़के से रहा नहीं गया। उसने कहा---मेरी गढ़ाई में कसर नहीं, आपमें ही कसर है ! कितना परिश्रम करके तो आभूषण बनाया और कह दिया कसर है !

बाप ने कहा---पहले की तरह तोड़-तोड़ कर बनाता जाता और धैर्य रखता तो ५००) रुपये का कारीगर बन जाता किन्तु अब तेरा विकास रुक गया ! अब तू आगे नहीं बढ़ सकेगा।

एक बार मैं एक जागीरदार के घर गोचरी के लिए गया। जब मैं पहुंचा तो जागीरदार की माता उसे फटकार बता रही थी। जागीरदार फौज में एक ऊँचे पद पर था। बड़ा अधिकारी था। माता की फटकार सुन कर वह मीठी मुस्कान मुस्करा रहा था। बड़ी नम्रता के साथ कह रहा था-माँजी, मैंने यों नहीं यों समझा था !

यह देखकर मैंने अपने मन में सोचा--इनके घर में कैसी खानदानी है ! खानदान ऊँचा न होता तो लड़का अपनी माता को एक ही घुड़की में चुप कर देता !

वैष्णवों के यहाँ लिखा है कि जब तक माता पिता मौजूद हैं, पुत्र को तीर्थयात्रा के लिए जाने की आवश्यकता नहीं है ! जिसके घर में ही तीर्थ मौजूद है. उसे इधर उधर भटकने की क्या आवश्यकता है ? कदाचित् पुत्र पहले ही मर जाय तो अपनी विनयशीलता के कारण वह १४ हजार वर्ष की आयु पाकर देवलोक में जाता है !

यद्यपि जैनधर्म विनयमूलक धर्म कहलाता है, फिर भी इसका यह अर्थ नहीं कि अन्य धर्मों में विनय की महत्ता नहीं स्वीकार की गई है। विनय सर्वसम्मत धर्म है और उत्तम श्रेणी की नीति भी है। सब धर्मों ने इसे स्वीकार किया है।

जैनधर्म अपनी सम्पूर्ण आचार प्रणालिका को विनय के ही अन्तर्गत कर देता है। इसी दृष्टिकोण से शास्त्र में विनय के दो भेद किये गये हैं--अनगार धर्म और आगार धर्म। ज्ञातासूत्र में जैनधर्म को विनयमूल धर्म प्रकट किया गया है। उत्तराध्ययन सूत्र में, जो भगवान् महावीर की अन्तिम कालीन शिक्षाएँ बतलाता है, पहली शिक्षा विनय बतलाई गई है। वहाँ विस्तार पूर्वक विनय धर्म का वर्णन किया गया है। दशवैकालिक सूत्र में भी अत्यन्त प्रभावशाली शब्दों में विनयसमाधि का वर्णन है। इन सब वर्णनों पर ध्यान देने से सहज ही समझ में आ जाता है कि विनय कितना महान् गुण है और आत्मोत्थान के लिए उसकी कितनी आवश्यकता है !

भाइयो ! अपने जीवन को उच्च भूमिका पर पहुँचाना चाहते हो और उत्तम बनाना चाहते हो तो पवित्र मन से विनय धर्म की आराधना करो। माता-पिता गुरु और अपने से जो भी बड़े हैं उनके सामने नम्रतापूर्ण व्यवहार करो। देख लो, गांधीजी ने देश का विनय किया तो उनके निधन पर संसार के राष्ट्रों ने अपने-अपने झंडे झुकाए। उन्हें मृत्यु के पश्चात् भी असाधारण सम्मान मिला। अतएव माता-पिता आदि गुरुजनों की भाँति अपने देश का भी विनय करो। आपका देश आपकी मातृभूमि है, इसे भी माता की ही तरह मानो। विनय धर्म तुम्हें ऊँचे लोक में ले जाएगा। वैदिक धर्म में कहा गया है:—

मातृदेवो भव।
पितृदेवो भव।
आचार्यदेवो भव।

माता देवता है, पिता देवता है और शिक्षक या आचार्य देवता है।

राजा श्रेणिक एक चाण्डाल से कोई विद्या सीखने लगे। वे स्वयं सिंहासन पर बैठे और चाण्डाल को नीचे बिठलाया। किन्तु विद्या नहीं आई। तब राजा ने अभयकुमार से कहा—अभय, क्या मेरी बुद्धि इतनी कुण्ठित हो गई है कि भरपूर श्रम करने पर भी विद्या नहीं आ रही है? या अन्य कोई कारण है?

अभयकुमार बोले—विद्या जल की भाँति ऊपर से नीचे की ओर गति करती है, नीचे से ऊपर की ओर नहीं। आप

नीचे बैठिए और अपने गुरु को ऊपर बिठलाइए और गुरु के प्रति विनय का भाव लाइए। ऐसा करने से अवश्य आपका मनोरथ पूर्ण होगा।

श्रेणिक महाराज ने जब ऐसा किया तो झट विद्या सध गई। अभिप्राय है कि विनय के बिना न विद्या आती है, न मन्त्र सिद्ध होता है और न कोई अन्य गुण प्राप्त हो सकता है। अतएव माता-पिता की ही भाँति शिष्य को शिक्षक का भी आदर करना चाहिए। शास्त्र में भी कहा है—

जस्सन्तिए धम्मपयाइं सिक्खे।
तस्सन्तिए वेयणियं पउंजे ॥

अर्थात्—जिसके पास से धर्म के पद सीखे अथवा धर्म-शास्त्र का ज्ञान प्राप्त करे, उसके प्रति विनय का प्रयोग करे।

कई लोग अपने आप शास्त्र बाँच लेते हैं और व्याख्यान देने लगते हैं। कोई बात समझ में नहीं आती तो कह देते हैं-आचार्यों ने यों ही लिख मारा है! जो उनकी मर्जी हुई, लिख दिया! कई लोग तो केवलियों की निन्दा करने से भी नहीं चूकते! ऐसे निन्दकों का कल्याण नहीं हो सकता। चार अंगुल का तिनका लेकर कोई जम्बूद्वीप को नापना चाहे तो क्या नप सकता है? लेकिन बिगड़ी खोपड़ी के लोग अपनी कमजोरी को महसूस नहीं करते! पूज्य उदयसागरजी महाराज कहते थे कि केवलियों के वचन सम्राट् के दुशाले के समान है। बुद्धिमत्ता से प्रयोग करने पर वह शोभा बढ़ाते हैं और खींच-तान करने से तार-तार बिखर जाते हैं। इसलिए भाइयो!

केवलियों के वचन में कभी खींचतान न करो, उनकी अविनय-आसातना मत करो। नहीं तो अनन्त काल तक मनुष्य जन्म पाना भी कठिन हो जाएगा।

अगर आपको अपना जीवन पावन, मंगलमय और उच्च बनाना है तथा ज्ञानवान् बनना है तो गुरु का विनय करो। शास्त्र में गुरु के सब लक्षण बतलाए हैं। उन लक्षणों से गुरु की परीक्षा कर लो। शास्त्र की कसौटी पर कस लो और जो सौ टंच का सोना साबित हो उसे अपना गुरु बना लो। गुरु बना लेने के पश्चात् अपने जीवन की नौका की पतवार उनके हाथ में सौंप दो निश्शंक और निर्विकल्प बन जाओ। फिर आँख मींच कर उनके बतलाये मार्ग पर चलते चलो। निस्संदेह होकर उनकी आज्ञा का पालन करो। कोई बात समझ में न आवे तो समझने का प्रयत्न करो; फिर भी समझ में न आवे तो गुरु के आदेश को शिरोधार्य करके चलो। जब गुरु बनाने से पहले पूरी परीक्षा कर चुके हो और उनके व्यक्तित्व में कोई दोष नहीं देखते हो तो फिर उनके आदेश का पालन करने में क्या सोच-विचार? क्यों आनाकानी?

कई लोग तब तक गुरु की आज्ञा मानने को उद्यत रहते हैं जब तक गुरु उनकी मनचाही आज्ञा दें। उनकी इच्छा के प्रतिकूल बात कह दी तो गुरु की आज्ञा मानने से इंकार कर देते हैं। यही नहीं, कई तो ऐसे अवसर पर गुरु की निन्दा भी करने लगते हैं। उन्होंने गुरु की महिमा नहीं समझी। गुरु की महिमा समझने वाला शिष्य गुरु की आज्ञा का आराधन करने के लिए अपने प्राणों की भी परवाह नहीं करता। गुरु की प्रशंसा में कहा गया है:—

विना गुरुभ्यो गुणनीरधिभ्यो,
जानाति तत्त्वं न विचक्षणोऽपि ।
आकर्णदीर्घायितलोचनोऽपि,
दीपं विना पश्यति नान्धकारे ॥

गुणों के सागर गुरु के बिना तीक्ष्ण बुद्धि वाला व्यक्ति भी तत्त्व को नहीं समझ सकता—गुरु के प्रसाद से ही मर्म को पाया जा सकता है। आँखें कितनी ही बड़ी और तेज क्यों न हों, जब घनघोर अंधकार छाया होता है तो दीपक के बिना कुछ भी दिखाई नहीं देता। यद्यपि देखने वाली आँख है—आँख में ही दृश्य पदार्थों को देखने की क्षमता है, फिर भी अंधकार में दीपक की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार देखने की शक्ति शिष्य में होती है, मगर दिखाने वाले गुरु अवश्य चाहिए। जैसे दीपक के विना सिर्फ नेत्रों के भरोसे पर अन्धकार में चलने वाला मनुष्य ठोकर खाता है, गड्हे में गिरता है या मार्ग भूल कर विपरीत मार्ग ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार अपनी बुद्धि के सहारे चलने वाला और गुरु रूपी प्रदीप की सहायता न लेने वाला मनुष्य भी पथभ्रष्ट हो जाता है और अपने लक्ष्य तक नहीं पहुँच पाता। इसीलिए कहा है—

पिता माता भ्राता प्रियसहचरी सूनुनिवहः ।
सुहृत् स्वामी माद्यत्करिभटरथाश्वाः परिकरः ॥
निमज्जन्तं जन्तुं नरककुहरे रक्षितुमलं ।
गुरोर्धर्माधर्मप्रकटनपरात् कोऽपि न परः ॥

चाहे माता, पिता, भ्राता, पत्नी, पुत्र, मित्र और स्वामी

हों, चाहे मदोन्मत्त हाथी, प्यादे, रथ और घोड़े आदि हों, अर्थात् चाहे बड़े से बड़ा परिवार हो या प्रचण्ड शक्ति से सम्पन्न सैन्य हों, किन्तु जब नरक में गिरने लगता है तो धर्म और अधर्म का भेद समझाने वाले गुरु के सिवाय दूसरा कोई भी उसे बचा नहीं सकता। इस प्रकार संसार में यदि कोई सब से बड़ा उपकारी है तो वह गुरु ही हैं—अन्य कोई नहीं।

भाइयो! गुरु की महिमा अपरम्पार है। सच्चा गुरु पक्का ब्रह्मचारी होगा तो उसका चेला चाहे कहीं हो, देश में या परदेश में हो, किन्तु संकट पड़ने पर याद करेगा तो उसे अवश्य दर्शन होंगे! हाँ, चेले में गुरु के प्रति प्रगाढ़ विश्वास होना चाहिए। यह कथन न असत्य है और न अतिशयोक्तिपूर्ण है। कहा है--

गुरु जब नेण मिलाते हैं।
त्रिलोकी कर में दिखाते हैं॥

जब गुरु महाराज प्रसन्न होते हैं तो सारा जगत् रेखा के समान दिखा देते हैं।

अतएव अपनी भलाई चाहो तो गुरु की आज्ञा मानो। आज्ञा में ही धर्म है और आज्ञा के बाहर धर्म नहीं है। यदि गुरु ने कह दिया कि उपवास मत करो और चेले ने आज्ञा का उल्लंघन करके उपवास कर लिया तो पाप किया। देखो, सेना में भी आज्ञा का कितना महत्त्व है? सेनापति का जो भी हुक्म हो, प्रत्येक सैनिक को उसे शिरोधार्य करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। सैनिक चाहे उसे उचित समझे या अनुचित, वास्तव में ही वह हानिकर भी क्यों न हो, परन्तु सैनिक को अधिकार

नहीं कि वह सेनापति के आदेश को अनंगीकार करे ! कदाचित् किसी सैनिक ने आज्ञाभंग किया तो वह गोली से उड़ा दिया जाता है। इस कठोर अनुशासन से कभी हानि भी होती दीख पड़े तो भी अन्त में तो लाभ ही होता है। बिना अनुशासन के व्यवस्था कायम नहीं रह सकती।

धार्मिक क्षेत्र में गुरु का वही स्थान है जो सैनिक क्षेत्र में सेनापति का है। इसलिए आप अपनी मनमानी मत करो और गुरु की आज्ञा के अनुसार चलो। हानि-लाभ और तर्क-वितर्क का विचार मत करो। अपनी बुद्धि गुरु के चरणों में अर्पित कर दो। अपने तर्क को गुरु-आस्था में गला दो। अपने विचारों को गुरु के आदेश का अनुचर बना दो। फिर देखो कि थोड़े ही दिनों में तुम्हारा जीवन कहाँ से कहाँ पहुँचता है ! शीघ्र ही तुम्हारे अन्तःकरण में एक असाधारण जागृति उत्पन्न होगी, एक क्रान्ति का उदय होगा। एक अनूठा प्रकाश चमक उठेगा।

भाइयो ! कुतर्क का त्याग करो और अचल विश्वास उत्पन्न करो। विश्वास बड़ी चीज़ है। बोलो, रंडी के छोकरा-छोकरी क्यों नहीं होते ? इसलिए कि उसे एक पर विश्वास नहीं है। पतिव्रता एक पर विश्वास रखती है तो वह फलती-फूलती है। तुम वेश्या वाला विश्वास मत करना, किन्तु अपने धर्म पर पक्के रहना।

श्रीकृष्ण महाराज को धर्म पर कितनी पक्की श्रद्धा थी ? तभी तो उन्होंने क्षायिक समकित पाई और तीर्थंकर गोत्र का बंध किया। वे आगामी उत्सर्पिणी काल में तीर्थंकर होंगे और जगत् का उद्धार करेंगे। जब रुक्मिणी और पद्मावती दीक्षा

लेने को तैयार हुई और कृष्णजी से आज्ञा माँगने लगीं तो उन्होंने क्या कहा ?

जिम सुख होवे तिम ही करो,
भव-सागर से वेगहिं तिरो ।।

कहो, श्रीकृष्ण ने जिसके लिए अनेक मुसीबतें सहीं और खतरनाक युद्ध करके जिसका पाणिग्रहण किया, उसी रुक्मिणी ने जब साध्वी बनने की आज्ञा माँगी तो तनिक भी आगा-पीछा न करके तत्काल कह दिया-जैसे सुख उपजे वैसा करो !

क्या आपकी धर्मपत्नी दीक्षा लेने की आज्ञा माँगे तो आप आज्ञा दे देंगे ? बहुत से लोग, आज्ञा देना तो दूर रहा, यही कहेंगे कि कहाँ से आगए यह साधु ! अभी पातरे फोड़ देंगे !!

भाइयो ! अभी रंग चढ़ा नहीं है। जब रंग चढ़ेगा तो ऐसा नहीं कहोगे। उस समय सोचोगे कि जो तिरना चाहता है उसे तिरने दो। मैं क्यों रोड़ा अटकाऊँ ? क्यों उलटा डुबाने का कारण बनूँ !

हाँ, तो आज्ञा मानना भी विनय का एक अंग है। विनय के महत्त्व के संबंध में जितना कहा जाय उतना ही थोड़ा है। विनय के अभाव में कदापि कल्याण नहीं हो सकता।

बाहुबलीजी का नाम तो तुमने सुना ही होगा ! भगवान् ऋषभदेव के तेजस्वी और बलशाली पुत्र बाहुबली बारह महीनों तक अन्न-पानी का त्याग करके, वृक्ष की भाँति, एक ही स्थान पर ध्यान में तल्लीन होकर खड़े रहे। गर्मी निकल गई, चौमासा

भी चला गया और शीतकाल भी व्यतीत हो गया! शरीर पर बेलें चढ़ गई और पक्षियों ने घौंसले बना लिए। इतनी कठिनतर तपश्चर्या का अनुष्ठान करने पर भी उन्हें केवलज्ञान नहीं प्राप्त हुआ। तब परम दयालु, भक्तभीतिभंजन भगवान् ऋषभदेव ने ब्राह्मी और सुन्दरी को-जो दीक्षित हो चुकी थीं-उनके पास भेजा! वे खोजती-खोजती तपस्वी बाहुबली के निकट पहुँचीं। उन्होंने कहा-हे भाई! तुमने राज्य त्याग, संसार के उत्तम सुख छोड़े और संयम को ग्रहण किया, किन्तु फिर भी गज पर सवार हो रहे हो? भाई! परम तपस्वी के लिए ऐसा करना शोभा नहीं देता। जब इतना सब छोड़ा तो हाथी की सवारी भी छोड़ दी होती!

साध्वियाँ इतना कह कर चली गईं!

उधर बाहुबली इन शब्दों को सुनकर सोच-विचार में पड़ गए। उन्होंने विचार किया-साध्वियाँ मिथ्या भाषण नहीं कर सकतीं, तब मैं कौन से हाथी पर चढ़ा हूँ? सोचते-सोचते ध्यान में आ गया कि अहा, मैं अभिमान के गज पर सवार हूँ! अब तक अभिमान ने मेरा पिण्ड नहीं त्यागा है! और इस अभिमान के प्रभाव से ही मेरी घोर तपस्या फलवती नहीं हो रही है। अभिमान कषाय ही मेरी कैवल्यप्राप्ति में बाधक है।

बस, उस वीरवर तपस्वी ने उसी समय अपने अहंकार को चूर्ण कर दिया। सोचा-अभिमान आत्मा की निर्मलता में इतना बाधक है तो मैं इसे पास ही न आने दूँगा। अब मैं अपने पूर्वदीक्षित ९८ लघुभ्राताओं के चरणों में नमस्कार करूँगा और इस अभिमान का ही मान-मर्दन करके इसे उपयुक्त सज़ा दूँगा!

भाइयो ! इस प्रकार अभिमान के गलते ही और अन्तःकरण में विनयधर्म के प्रकट होते ही भगवान् बाहुबली को अनन्तज्ञान की प्राप्ति हो गई ! वे महान् पुरुष थे। उन्होंने थोड़े से इशारे से ही अपनी दुर्बलता दूर कर दी और विनयधर्म को धारण कर लिया।

गौतम स्वामी की विनीतता पर विचार करो। उनकी सी प्रखर बुद्धि का धनी अन्य कौन हो सकता है ? किन्तु जितनी बार भगवान् से प्रश्न करते, उतनी ही बार तीन दफा उठ-बैठ कर विधिपूर्वक वन्दना करते थे ! धन्य विनयवृत्ति !

शालिभद्र की कथा सुनी है ? एक बार उनकी माता ने उनसे कहा-लालजी ! नीचे आओ। श्रेणिक पधारे हैं !

शालिभद्र उस समय नाटक देखने में निमग्न थे। उन्होंने समझा कि कोई व्यापारी आया है ! अतएव उन्होंने कह दिया-माता, मैं नहीं जानता मोल-तोल में ! आपकी इच्छा हो, उसी भाव में खरीद कर भंडार में डाल दो !

माता मुस्किराई कि लाल को अभी तक यही नहीं मालूम कि श्रेणिक कौन हैं ? और फिर उसने कहा-अरे, यह तो अपने नाथ हैं ! इनकी छत्र-छाया में ही हम रहते हैं।

माता के यह वचन सुनकर शालिभद्र को एक आघात-सा लगा। वह सोचने लगे-ओह, मैंने तो स्वप्न में भी नाथ का नाम नहीं सुना था। मेरे ऊपर भी क्या नाथ हैं ?

बैठ पलंग पर धरे ध्यान, दिल स्यान विचारे ऐसी बात।
नहीं कीनी करणी, जिससे हुए हमारे सिर पर नाथ ॥

अभी तक मैं समझ रहा था कि मैं ही सब का नाथ हूँ। किन्तु यहाँ तो मेरे सिर पर भी नाथ निकल पड़ा ! छिः, इस संसार में रहना व्यर्थ है ! इसको त्याग कर संयम धारण कर लेना ही श्रेयस्कर है।

ऐसा करने से मेरे सिर पर कोई नाथ नहीं रह जायगा। किन्तु माताजी ने नीचे उतरने के लिए कहा है। नहीं जाऊँगा तो अविनीत हो जाऊँगा। इस प्रकार विचार कर वे नीचे गए।

कहो भाइयो ! शालिभद्र के अन्तःकरण में विनय के संस्कार न होते तो वे ऐसा सोचते ? वास्तव में पुण्यवान जीव ही विनय के गुण को प्राप्त करता है।

इस प्रकार चाहे शास्त्रों में प्रतिपादित चरित्रों का अध्ययन करो, चाहे शास्त्रों के विधान को देखो, सर्वत्र विनय की प्रधानता ही आपको दिखाई देगी। किसी भी प्रकार की खेती करने के लिए पहले जमीन तो बनाने की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार प्रत्येक गुण को प्राप्त करने के लिए विनय की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि आचार्य मानतुङ्ग महाराज ने भगवान् आदिनाथ–ऋषभदेव को पुनः पुनः नमस्कार किया है।

वीतरागता का उपासक वीतराग को नमस्कार करता है और धन का उपासक धनवान के आगे मस्तक झुकाता है। जिसे जिस वस्तु की चाह है, वह उसी वस्तु के स्वामी को नमता है। आप यहाँ आत्मा के कल्याण की कामना लेकर आये हैं और आत्मा के कल्याण का एक मात्र उपाय वीतरागता की प्राप्ति है। वीतराग भाव के अभाव में कोई भी तपस्या

और किसी भी प्रकार का कायक्लेश आपकी आत्मा को निर्मल नहीं बना सकता। अतएव आपको वीतरागता की ही उपासना करनी चाहिए। वीतरागता का परम प्रकर्ष संसार में अरिहंत जिनेन्द्र भगवान् में ही पाया जाता है। इस कारण आपको उन्हीं के चरणों में अपनी विनयभक्ति प्रकट करनी चाहिए। इससे आपकी आत्मा का उद्धार होगा और आनन्द ही आनन्द वरतेगा।

२-१-४६ }
पाली }

# १२

# नाम और रूप

स्तुतिः—

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चितबुद्धिबोधात्,
त्वं शङ्करोऽसि भुवनत्रयशङ्करत्वात् ।
धाताऽसि धीर ! शिवमार्गविधेर्विधानात्,
व्यक्तं त्वमेव भगवन् ! पुरुषोत्तमोऽसि ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि–हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

हे प्रभो ! हे देवों द्वारा पूजित पादपीठ वाले प्रभो ! आप ही बुद्ध हैं क्योंकि देवताओं ने भी आपके अनन्त बोध की पूजा की है। नाथ ! आप ही शंकर हैं, क्योंकि आप तीनों लोकों में शान्ति और सुख का प्रसार करने वाले हैं। हे जिनवर ! आप

विधाता हैं, क्योंकि आपने मोक्ष-मार्ग की विधि चलाई है। इन सब असाधारण गुणों के कारण, भगवन्! यह स्पष्ट है कि आप ही पुरुषोत्तम हैं।

भाइयो! यह भक्तामरस्तोत्र का एक पद्य है। सारा स्तोत्र इसी प्रकार की अतीव रमणीय और हृदयहारी सूक्तियों से भरा हुआ है। इसमें भगवान् नाभिनन्दन की ऐसे समर्थ शब्दों में स्तुति की गई है कि जो कोई भी उन शब्दों के मर्म को समझ कर पठन करेगा, उसका चित्त भक्ति के अनिर्वचनीय रस में अवगाहन किये बिना नहीं रहेगा। उसके अन्तःकरण से भक्ति का अतिविमल झरना फूटे बिना नहीं रहेगा। इस स्तुति में हृदय को द्रवित कर देने की अपूर्व क्षमता है!

आज मंगलाचरण में जो पद्य बोला गया है, उसका कई दृष्टिकोणों से बड़ा महत्त्व है। भक्ति का अनूठा रस तो उससे प्रवाहित हो ही रहा है, ईश्वर का स्वरूप भी उससे स्पष्ट झलक रहा है। संसार में ईश्वर को लक्ष्य करके जो जटिल मतभेद चल रहे हैं, उनका अन्त कर देने का मार्ग यहाँ आचार्य ने बड़ी खूबी से सुझा दिया है।

अक्सर देखा जाता है कि लोग परमात्मा के स्वरूप पर विचार नहीं करते और उसके विविध नामों का आग्रह करके आपस में झगड़ते रहते हैं। कोई राम के नाम को पकड़ कर बैठा है तो कोई रहीम नाम पर डटा है! कभी-कभी तो नामों का झगड़ा इतना तीव्र बन जाता है कि न पूछो बात! यहाँ तक कि कई वैष्णव शिव का नाम उच्चारण नहीं करते और शैव लोग विष्णु के नाम से चिढ़ते हैं! इस प्रकार गहराई

में न पहुँचने वाले लोग रूप को न समझ कर नाम में ही अटके रहते हैं।

ज्ञानीजन नाम को गौण और रूप को मुख्य मानते हैं। वे वस्तु के स्वरूप का चिन्तन करते हैं और यथार्थ स्वरूप का निर्णय कर लेते हैं। फिर उस वस्तु का नाम कुछ भी रख लिया जाय, किसी भी शब्द से उसे कहा जाय, इसमें उन्हें कोई आपत्ति नहीं होती।

परमात्मा का स्वरूप एक है और नाम अनेक हैं। जैनों के सहस्र नाम में भगवान् के हजार नाम बतलाये गये हैं और वैष्णवों में भी सहस्र नाम प्रचलित हैं। इस तरह हजारों नाम होने पर भी तत्त्व एक ही है। परमात्मा के विषय में जो इस तथ्य को समझ लेगा वह नाम को लेकर राग-द्वेष में कदापि नहीं पड़ेगा।

आचार्य महाराज ने यहाँ परमात्मा के अनेक नामों को एक ही स्वरूप में घटाया है। वे कहते हैं—परमात्मा बुद्ध भी है, शंकर है, ब्रह्मा ( विधाता ) भी है और पुरुषोत्तम (विष्णु) भी है। इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि परमात्मा के स्वरूप अलग-अलग हैं। स्वरूप तो सब का एक है, किन्तु नाम ही अलग-अलग हैं।

अब प्रश्न हो सकता है कि परमात्मा का स्वरूप क्या है? इस प्रश्न का उत्तर भी परोक्ष रूप में इस पद्य में आ गया है।

सर्वप्रथम यह समझ लेना चाहिए कि प्रत्येक वस्तु में अनेक—अनन्त गुण पाये जाते हैं। संसार के किसी भी तुच्छ

से तुच्छ पदार्थ को लीजिए या परमात्मा जैसे महान् पदार्थ को लीजिए। प्रत्येक में अनन्त गुणों का अस्तित्व है। यह ठीक है कि हम परिमित बुद्धि वाले अनन्त गुणों को अलग-अलग समझने में समर्थ नहीं हैं, फिर भी अल्पज्ञों की समझ के कारण वस्तु स्वरूप अन्यथा नहीं हो सकता। वस्तु अपने स्वरूप में वर्त रही है, उसे आपकी समझ की चिन्ता नहीं है। आपके अन्यथा समझने से वह अन्यथा नहीं होगी। वह तो अपने निज रूप में ही रहेगी।

हाँ, तो परमात्मा में भी अनन्त गुणों की सत्ता है। उन अनन्त गुणों के कारण ही परमात्मा के अनन्त नाम हैं। अनन्त गुणों में ज्ञान गुण प्रधान है। परमात्मा अनन्तज्ञानी हैं और यही उसका प्रधान लक्षण है। जैसे सूर्य अपने स्थान पर रहता है, किन्तु उसका प्रकाश लोक में व्याप्त होता है, उसी प्रकार परमात्मा का ज्ञान भी अखिल लोकालोकव्यापी है। इसी अपेक्षा से परमात्मा को सर्वव्यापी अथवा विभु कहते हैं।

दूसरे लोग भी परमात्मा को सर्वव्यापी कहते हैं और हम भी सर्वव्यापी कहते हैं, किन्तु दोनों की दृष्टि में भेद है। दूसरे लोग शरीर से व्यापक मानते हैं। उनका कहना है कि परमात्मा शरीर सहित सर्वव्यापी हैं। कहा भी है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखं,
विश्वतो बाहुरुत विश्वतः पाद्।

अर्थात्—ईश्वर की आँखें सब जगह हैं, मुख सब जगह हैं, भुजाएँ सब जगह हैं और पैर भी सब जगह हैं।

अब आप विचार कीजिए कि यदि सम्पूर्ण लोक में ईश्वर का ही शरीर भरा हुआ है तो शरीर तो शरीर ही है, जैसा हम लोगों का वैसा ही ईश्वर का। अतएव दूसरे किसी पदार्थ को रहने का अवकाश ही नहीं मिलेगा! क्या हम सब लोग और जगत् के अन्य समस्त पदार्थ ईश्वर के शरीर में ही समाये हुए हैं? ऐसा हो तो बड़ी गड़बड़ी होगी! ईश्वर को नरक में भी रहना मानना पड़ेगा और अशुचि स्थानों में भी मगर ऐसा मानना ईश्वर की शान के खिलाफ है। इससे ईश्वर के ईश्वरत्व में बट्टा लगता है। अतएव शरीर से ईश्वर को सर्वव्यापी मानने की कल्पना बुद्धिग्राह्य नहीं है।

कहा जा सकता है कि ईश्वर के शरीरव्यापी होने में अगर बाधा आती है तो ज्ञान-व्यापी होने में भी तो यही बाधा है। फिर आप ज्ञान से व्यापक क्यों मानते हैं?

इस प्रश्न का उत्तर समझने योग्य है। बात यह है कि गुण और गुणी में तादात्म्य संबन्ध होता है। दोनों साथ-साथ ही रहते हैं-एक को छोड़ कर दूसरा कदापि नहीं रह सकता। जैसे फूल और फूल की गंध अलग-अलग नहीं रह सकते, उसी प्रकार कोई भी गुण अपने गुणी को छोड़ कर नहीं रह सकता। अथवा जैसे घट का रूप घट को छोड़ कर अन्यत्र नहीं जा सकता, उसी प्रकार कोई भी गुण अपने गुणी को छोड़कर अन्यत्र नहीं रह सकता। इस नियम को भली-भाँति समझ लेना चाहिए।

आत्मा गुणी और ज्ञान उसका गुण है। उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार वह भी अलग-अलग नहीं रह सकते। अर्थात् जहाँ आत्मा होगा वहीं ज्ञान होगा और जहाँ

ज्ञान होगा वहां आत्मा अवश्य होगा। अब जब हम परमात्मा को ज्ञान से सर्वव्यापक कहते हैं तो क्या परमात्मा रूप गुणी सर्वव्यापक है ? नहीं, परमात्मा की आत्मा को व्यापक मानने में अनेक आपत्तियाँ हैं। फिर भी ज्ञान को जो सर्वव्यापक कहा है, वह सिर्फ शक्ति की अपेक्षा से। अर्थात् ईश्वर का ज्ञान समस्त पदार्थों को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष जानता है; संसार का कोई भी पदार्थ उनके ज्ञान से अगोचर नहीं है, इसी कारण परमात्मा का ज्ञान व्यापक कहलाता है। कहा भी है:—

गंतूण ण परिछिंदइ, णाणं णेयं तयम्मि देसम्मि।
आयत्थं चिय नवरं, अचिंतसत्तीउ विण्णेयं ॥

अर्थात्—जिस जगह पर ज्ञेय पदार्थ विद्यमान है, उस जगह जाकर ज्ञान उस पदार्थ को नहीं जानता है; किन्तु आत्मा में स्थित रह कर ही जानता है। कोई कहे कि आत्मा में रह कर बाहर के, दूर-दूर के, पदार्थों को ज्ञान किस प्रकार जान सकता है ? इसका उत्तर यह दिया गया है कि अचिन्त्य शक्ति के द्वारा ऐसा होता है।

आखिर हम भी तो एक जगह बैठे-बैठे दुनिया भर की वस्तुओं का स्मरण करते हैं। स्मरण भी एक प्रकार का ज्ञान है। इस प्रकार जब हमारा ज्ञान हमारी आत्मा में स्थिर रहता हुआ भी बाहर के पदार्थों को जान सकता है तो परमात्मा का ज्ञान आत्मा में रहा हुआ ही समस्त जगत् के पदार्थों को क्यों नहीं जान सकता ?

कदाचित् यह कहा जाय कि हमारा पदार्थों के पास जाकर ही उन्हें जानता है; तो यह कहना युक्त नहीं है। ज्ञान

यदि आत्मा से बाहर निकल कर पदार्थ को जानने के लिए जाएगा तो आत्मा उस समय ज्ञानहीन अर्थात् अचेतन हो जाएगी। किन्तु ऐसा होना कभी नहीं देखा जाता। अतएव यह स्पष्ट है कि ज्ञान आत्मा से बाहर कदापि नहीं निकलता। जब हमारा ज्ञान, अपनी अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से आत्मस्थ रहता हुआ भी पदार्थों को जान लेता है तो फिर परमात्मा का ज्ञान क्यों नहीं जान लेगा? हमारा ज्ञान इन्द्रियजन्य है, आवरणों से घिरा है और अपूर्ण है। परमात्मा का ज्ञान अतीन्द्रिय, निरावरण और परिपूर्ण है। देश और काल आदि का किसी भी प्रकार का व्यवधान उसे रोक नहीं सकता। इसी कारण शास्त्रों में जगह-जगह कहा गया है—

अप्पडिहयवरनाणदंसणधरे।

अर्थात्—भगवान् अप्रतिहत (बिना किसी रुकावट के) ज्ञान और दर्शन को धारण करने वाले हैं।

तात्पर्य यह है कि परमेश्वर न शरीर से सर्वव्यापी हैं, न आत्मा से वह शक्ति की अपेक्षा ज्ञान से सर्वव्यापी हैं। उनका ज्ञान अनन्त है, असीम है, अप्रतिहत है। जैसे सूर्यमण्डल अपने नियत क्षेत्र में है किन्तु उसका प्रकाश लोक में फैल रहा है, उसी प्रकार भगवान् सब से न्यारे हैं और ज्ञान की अपेक्षा सारे जगत् में व्याप्त हैं।

कोई मनुष्य धूप में दो-चार लट्ठ फटकारे तो धूप का क्या बिगड़ेगा? उलटा मारने वाले को ही कष्ट होगा! इसी प्रकार भगवान् ज्ञान से सारे संसार में व्याप्त हैं और जो मनुष्य झूठ बोलेंगे वही दुःख उठाएँगे। भगवान् कुछ नहीं कहेंगे।

भगवान् ने तब तक ही उपदेश दिया जब तक वे तेरहवें गुण-स्थान में रहे। चौदहवें गुणस्थान में पहुँचने पर उपदेश देना बंद कर दिया, क्योंकि फिर अक्रिय हो गए। उन्हें कोई काम करना शेष नहीं रहा। काम शेष रहता है तो पुरुषार्थ किया जाता है और शेष न रहे तो पुरुषार्थ करने की भी क्या आवश्यकता है? जैसे किसी मनुष्य के सामने सौ मन अनाज का ढेर पड़ा है तोलने वाले ने तोलना आरंभ किया और सब तोल डाला। जब शेष नहीं रहा तो क्या तोलेगा? और होगा तो तोलेगा। नहीं होगा तो अपने तोले-तराजू लेकर घर जाएगा। इसी प्रकार जब तक कर्म बाकी रहे तब तक भगवान् पुरुषार्थ करते रहे। जब कर्म न रहे तो अपने घर-मोक्षधाम-में चले गए। अब उन्हें पुरुषार्थ करने की आवश्यकता ही नहीं रह गई। जहाँ तक अधूरापन है, कुछ प्राप्त करने की अभिलाषा है, वहाँ तक ही पुरुषार्थ है। अगर भगवान् का भी काम अधूरा रह जाय तो समझना चाहिए कि वह भगवान् ही नहीं हैं! जब तक अपूर्णता है तब तक परमात्मापन प्राप्त नहीं होता। जिसमें पाँच गुण पाये जाते हैं, वही भगवान् हैं—

खेयन्नए से कुसले महेसी,
अणंतनाणी य अणंतदंसी ॥

जो सब कुछ जानने वाला और सब कुछ देखने वाला है, उसे ही भगवान् कहते हैं। भगवान् के लिए कहा जाता है—सव्वन्नूणं, सव्वदरिसीणं,। यह भगवान् के गुण हैं।

एक आदमी कहने लगा कि प्रायः सभी कहते हैं कि भगवान् सब कुछ देखते हैं, परन्तु मैं कहता हूँ—भगवान् एक

चीज़ नहीं देखते। क्या आप बता सकते हैं कि भगवान् कौन-सी चीज़ नहीं देखते ?

उसने कहा–स्वप्न नहीं देखते हैं !

बात ठीक है। स्वप्न वही देखता है जो नींद लेता है। अगर भगवान् नींद लेने लगें तो उनका सब जानना और देखना भाग जाय ! उस समय तो अज्ञान अवस्था हो जाए ! परन्तु भगवान् को निद्रा नहीं आती, क्योंकि उन्होंने दर्शनावरणकर्म का समूल घात कर दिया है। निद्रा का कारण दर्शनावरण-कर्म है। जब कारण नहीं रहता तो कार्य भी नहीं होता। कई लोग कहते हैं–भगवान् सोएँगे, अतः चलो शयन के दर्शन करने। किन्तु भाई, भगवान् सो जाएँ तो उनका भगवान्पन ही भाग जाए !

तो जिन्हें नींद आती है वे सोते हैं और जो सोते हैं उन्हें स्वप्न आता है। लेकिन भगवान् न सोते हैं, न स्वप्न देखते हैं !

जब भगवान् स्वप्न नहीं देखते तो सर्वदर्शीपन की बात गलत हो गई ? नहीं, ऐसा नहीं समझना चाहिए। भगवान् स्वयं स्वप्न नहीं देखते किन्तु दूसरों को जो स्वप्न आते हैं, उन्हें वे अवश्य देखते हैं ! अतएव उनके सर्वदर्शित्व में बाधा नहीं आती।

सब को देखने वाला सर्वदर्शी कहलाता है। सब को देखने का अर्थ यह है कि जिसकी सत्ता है उसे देखे। ऐसा नहीं कि जिसकी सत्ता ही नहीं है उसे भी देखे। भगवान् का अपना कोई स्वप्न ही नहीं है तो वे देखें कैसे ? मनुष्य को मनुष्य के रूप में वे देखते हैं, किन्तु घोड़े के रूप में नहीं देखते। घोड़े को

घोड़े के रूप में देखते हैं, मनुष्य के रूप में नहीं देखते। तो क्या उनके सर्वदर्शीपन में कमी रह गई? नहीं।

जो वस्तु-स्वरूप विद्यमान है उसे न देखने से सर्वदर्शीपन में कमी आती है। इसी प्रकार जो वस्तु नहीं है, उसे देखने से भी सर्वदर्शिता में बाधा आती है। भगवान् यदि मनुष्य को घोड़ा और घोड़े को मनुष्य के रूप में देखने लगें तो वह भ्रान्ति होगी; मिथ्या देखना होगा। इसी प्रकार उनका अपना कोई स्वप्न नहीं है, फिर भी वे उसे देखने लगें तो सर्वदर्शी नहीं रह जाएँगे। सार यह है कि जगत् में जितने भी पदार्थ विद्यमान हैं, उन सब को भगवान् यथार्थ रूप में जानते और देखते हैं। यहाँ तक भगवान् के दो गुण हुए—(१) अनन्तज्ञान और (२) अनन्तदर्शन।

भगवान् का तीसरा गुण 'अनन्तशक्ति' है। परमात्मा में अनन्त शक्ति विद्यमान है। यह भी उनका एक लक्षण है।

कई लोग कहते हैं—परमात्मा सर्वशक्तिमान् है। आपको समझना चाहिए कि अनन्त शक्तिमान् और सर्वशक्तिमान् में क्या अन्तर है? देखो, सर्वशक्ति में अच्छी और बुरी दोनों प्रकार की शक्तियाँ शामिल हो जाती हैं और अनन्तशक्ति में आत्मा की स्वाभाविक शक्तियाँ ही अन्तर्गत होती हैं। जो लोग परमात्मा को सर्वशक्तिमान् कहते हैं, उनसे अनन्तशक्तिमान् मानने वाला प्रश्न करता है कि क्या ईश्वर में ईश्वरत्व को नष्ट कर लेने की शक्ति है? क्या ईश्वर में अपने समान अनादि अनन्त अनेक ईश्वर बना लेने की शक्ति है? अगर यह शक्तियाँ नहीं हैं तो वह सर्वशक्तिमान् कैसे रहा? और जब

सर्वशक्तिमान् नहीं रहा तो तुम्हारी मान्यता के अनुसार ईश्वर भी नहीं रहा !

आशय यह है कि ईश्वर में सर्वशक्तियाँ नहीं, अनन्त शक्तियाँ हैं। उसकी अनन्त शक्तियों में से भी प्रत्येक शक्ति अनन्त है।

बात ऐसी कहनी चाहिए जिसमें दोषापत्ति न हो। एक आदमी ने पूछा—समदृष्टि किसे कहते हैं ?

मैंने कहा—तुम्हीं समदृष्टि की परिभाषा करो।

वह बोला—जो सब को समान दृष्टि से देखे, सब पर एक सरीखा भाव रक्खे, वही समदृष्टि।

मैंने कहा—जो सब पर समान भाव रक्खेगा वह क्या अपनी माता पर और अपनी पत्नी पर भी समान भाव रक्खेगा ? दोनों को एक ही दृष्टि से देखेगा ?

तब वह कहने लगा—जो वस्तु जैसी है उसे वैसी ही समझना समदृष्टि कहलाती है। पुण्य को पुण्य, पाप को पाप, साधु को साधु, असाधु को असाधु, हीरे को हीरा और कंकर को कंकर समझना ही सम्यग्दृष्टि या समदृष्टि है। भगवान् भी पापी को पापी और धर्मी को धर्मी समझते हैं। क्योंकि—

वत्थुसहावो धम्मो।

वस्तु का स्वरूप ही धर्म है। जिस वस्तु का जैसा स्वरूप है, उसे वैसा ही समझना धर्म का समझना कहलाता है। विष और अमृत एक हो जाएगा क्या ? हाथी और गधा

एक भाव बिकेगा ? नहीं । तो फिर सम्यग्दृष्टि गुड़ और गोबर को एक-सा कैसे समझ सकता है ?

तो इस प्रकार की बारीकी की बातें तब समझ में आती हैं जब ज्ञानवान् गुरु की संगति की जाय। बिना ज्ञानियों की संगति के ठीक-ठीक तत्त्व समझ में नहीं आता। अन्तर थोड़ा सा जान पड़ता है, किन्तु कभी-कभी वह थोड़ा-सा अन्तर भी बहुत बड़ा अर्थभेद उत्पन्न कर देता है।

अतएव सूक्ष्म बातों को समझने के लिए शास्त्रज्ञ विद्वानों का समागम करना ही योग्य है। जो जैसा समागम करता है, वह वैसा ही बन जाता है। गुणवानों की संगति गुणवान् बनाती है, ज्ञानियों की संगति ज्ञानवान् बनाती है और दुर्जनों की संगति दुर्जन बनाती है। मन का स्वभाव ऐसा विचित्र है कि वह जैसा संसर्ग पाता है, वैसा ही बन जाता है। पानी का रंग कैसा ? जिसमें मिल जाय वैसा ! यही बात मन के संबंध में है।

एक सुथार कहीं जा रहा था। रास्ते में उसे चोर मिल गए। सुथार ने पूछा—तुम कौन हो ?

चोर जानते थे कि यह हमारा क्या बिगाड़ सकता है ? अतएव उन्होंने सच-सच कह दिया—चोर हैं।

'क्या करते हो ?'

'चोरी !'

'चोरी करने से क्या लाभ है ? पकड़े जाओगे तो क्या दुर्दशा होगी !'

'अरे भोले ! एक बार चोरी करते हैं तो दस-बीस हजार का माल हाथ लग जाता है। मौज से खाते-पीते हैं। जो होशियारी से चोरी करेगा वह पकड़ा कैसे जाएगा ?'

सुथार का मन मचल गया। उसने कहा-मैं दिन भर पसीना बहाता हूँ तब कहीं रुपया-डेढ़ रुपया कमा पाता हूँ! क्या तुम मुझे शामिल नहीं कर सकते ?

चोरों ने कहा-क्यों नहीं ? तुम्हें भी पाँति देंगे। शामिल हो जाओ।

तात्पर्य यह है कि संगति से ही आदमी सुधर जाता है और संगति से ही बिगड़ जाता है। एक कटोरे में दूध भरा है। उसमें शक्कर डालो तो कैसा अमृत-सा स्वाद बन जाता है ? और यदि नमक डाल दो तो वही दूध कितना विकृत हो जाता है ? इसी प्रकार मनुष्य जैसों के संसर्ग में रहता है, वैसा ही हो जाता है।

संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति।

कोई भी आदमी जन्म से सद्गुण या दुर्गुण लेकर नहीं आता; वह तो कोरे कागज़ के समान उत्पन्न होता है किन्तु बाद में गुणी जनों का संसर्ग पाकर गुणी और दुर्गुणी की संगति पाकर दुर्गुणी हो जाता है। ज्ञानी के पास रह कर ज्ञान से विभूषित हो जाता है और बुद्धिमान के सम्पर्क में आकर बुद्धु बन जाता है। कुसंगति से सारी पंडिताई भी खाक में मिल जाती है।

तो परमात्मा के विषय में जो नाना प्रकार की भ्रान्तियाँ

फैली हुई हैं, उनका कारण ज्ञानी जनों की संगति न करना है। जो लोग ज्ञानी पुरुषों के अन्तेवासी नहीं बनते, उनकी उपासना नहीं करते और उनकी वाणी श्रवण नहीं करते, वे ही तरह-तरह की भ्रान्तियों के पात्र बनते हैं। परमात्मा को अनन्त-शक्तिमान् मानने के बदले सर्वशक्तिमान् मानने का यही कारण है। सर्वशक्तिमान् कहने से ईश्वर संसार की सब बुराइयों का भी भंडार बन जाता है और उसके ईश्वरत्व में बाधा आती है। अतएव ईश्वर को अनन्तज्ञानी, अनन्तदर्शी और अनन्तशक्ति-मान् ही मानना उचित है।

ईश्वर का चौथा गुण है-पूर्णता । आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में पूर्ण है, किन्तु आत्मिक विकारों एवं तज्जन्य आव-रणों के कारण उसका स्वरूप छिप जाता है, दब जाता है या विकृत रूप धारण कर लेता है। फिर आत्मा में जब जागृति आती है और वह अपने स्वरूप की उपलब्धि के लिए उद्यत होता है, तब संयम और तप की साधना करके उन विकारों को नष्ट करने लगता है। विकार ज्यों-ज्यों दूर होते जाते हैं, आवरण क्षीण होते जाते हैं और आत्मा की शुद्ध स्थिति प्रकट होती जाती है। शनैः शनैः आत्मिक बल की विवृद्धि होती है और तब आत्मिक विशुद्धि भी बढ़ती है। अन्त में आत्मा चरम विजय प्राप्त करके सर्वथा निर्विकार और निरुपाधिक बन जाती है। वही आत्मा की पूर्णता है। आत्मा की स्वाभाविक शक्तियाँ अपने असली रूप में प्रकाशित हो जाने पर किसी प्रकार की अपूर्णता को अवकाश नहीं रहता। इसी कारण परमात्मा पूर्ण कहलाता है।

जो लोग परमात्मा को जगत् के संचालन की झंझटों

में डालते हैं उन्होंने इस तत्त्व पर विचार नहीं किया। जगत् का कर्त्ता-हर्त्ता और संचालक एवं व्यवस्थापक मानने से ईश्वर की पूर्णता नहीं रहती।

कल्पना करो कि किसी गाँव पर पचास डाकू चढ़ आये हैं। उस गाँव में हाकिम मौजूद है और उसे मालूम है कि डाकुओं ने धावा बोल दिया है। यही नहीं, उसे पहले ही पता चल गया था कि डाकुओं की चढ़ाई होने वाली है। ऐसी स्थिति में उसका क्या कर्त्तव्य होना चाहिए? उसे डाकुओं को धावा करने से रोकना चाहिए। यदि वह नहीं रोकता है तो बाध्य होकर यही मानना पड़ेगा कि या तो वह प्रजा को जानबूझ कर लुटवाना चाहता है या उसमें रोकने शक्ति नहीं है। दोनों विकल्पों में वह हाकिम रहने के योग्य नहीं है। कदाचित् रोकने की इच्छा और शक्ति होने पर भी वह नहीं रोकता है और लूट चुकने के बाद उन्हें सजा देता है तो यह भी उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। जो अपराध करने से रोकने की शक्ति होने पर भी किसी को अपराध करने से रोकता नहीं, उसे बाद में दण्ड देने का भी अधिकार नहीं है। आप को मालूम हो जाय कि मेरा बेटा कुए में पड़ने वाला है, तो वह रोकेगा अथवा नहीं? कुए में पहले गिर जाने दे और फिर उसे दण्ड दे कि तू क्यों गिरा, ले गिरने का फल भोग; तो ऐसा करने वाला क्या पिता के पद का अधिकारी रह सकता है? इसी प्रकार परमात्मा जब सर्वज्ञ होने के कारण जानता है, सर्वशक्तिमान् होने से रोक सकता है और दयालु माना जाने के कारण रोकना चाहता है, तो फिर जीवों को पाप करने से क्यों नहीं रोकता? वह कैसे पूर्ण कहला सकता है?

सारांश यह है कि परमात्मा में ऊटपटांग गुणों की कल्पना करने से उसका स्वरूप बिगड़ जाता है। अतएव ऐसे गुण न मान कर उक्त गुण ही मानना चाहिए।

ईश्वर का पाँचवां गुण है—अव्याबाध सुख। अर्थात् ईश्वर के सुख में कोई बाधा नहीं है। संसारी जीवों का सुख इन्द्रिय जनित और विषयाश्रित है। परनिर्भर है। परनिर्भर होने से वह अस्थायी है, कभी होता है, कभी नहीं होता। वह सीमित भी होता है। किन्तु परमात्मा का सुख आत्मिक है, अतएव उसमें किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं होती और वह अमर्याद है। ईश्वर Enternal happiness में मग्न है। उसके सुख में त्रुटि नहीं है।

भाइयो! परमात्मा तुम्हें या हमें दिखाई नहीं देता, फिर भी युक्ति से उसके गुणों को समझ कर मानना चाहिए। अभी जो पाँच गुण बतलाये गये हैं, वे सर्वमान्य हैं। जैन, वैष्णव और मुसलमान आदि सभी उन गुणों को मानते हैं। किन्तु जब उसमें दूसरे अयोग्य गुणों का आरोप कर दिया जाता है, तब नाना प्रकार के विवाद खड़े हो जाते हैं और ईश्वर की सत्ता ही विवाद का विषय बन जाती है।

जैनधर्म स्याद्वादमय और दयामय धर्म है। वह किसी की बुराई नहीं कर सकता और न निन्दा करता है। वह वस्तु के परिपूर्ण स्वभाव को प्रकट करता है। जिसकी इच्छा हो वह माने, न इच्छा हो तो न माने। वह किसी पर जबर्दस्ती नहीं करता। दयाधर्मी कहता है कि अभी नहीं समझा तो कल समझेगा। कल नहीं तो अगले जन्म में समझेगा। अगले जन्म में भी नहीं समझेगा तो दो-चार चौरासी

का और चक्कर लगाएगा । तुम्हारा मन हो तो गधेड़े और टेंगड़े आदि की योनियाँ भुगत लो और हाथी-घोड़ा आदि की पर्यायों में भटक आओ। जब अघा जाओ और जन्म-मरण के चक्कर से छूट जाने की इच्छा उत्पन्न हो जाय तो हमारे पास आ जाना ! उस रोज आना है बंदे ! आखिर तो वीतरागधर्म की शरण में आना ही पड़ेगा ! इसके बिना निस्तार नहीं हो सकता।

कोई कहे कि तुम असत्य कहते हो तो कह ले भैया ! अपना-अपना दृष्टिकोण है ! जीभ तेरी है, इच्छा तेरी है। हम रोकते नहीं आएँगे। मगर तुझे ऐसा कहने के लिए पछताना पड़ेगा। सत्य की शरण में आये बिना कल्याण नहीं होगा।

कई लोग ऐसे दुराग्रहशील होते हैं कि उन्हें समझाने की लाख चेष्टा करो तो भी नहीं समझते हैं। वे जो बात पकड़ बैठते हैं, उसे छोड़ते ही नहीं।

एक बार किसी बहिन ने अपने भाई से कहा-भैया, तुम अपने काम में चतुर हो और व्यवहारकुशल भी हो। अपने इस भाणेज को अपने पास रख कर होशियार कर दो !

भाई ने कहा-आजकल की दुनिया में कुशलता का अर्थ है धूर्तता है। जो जितना अधिक धूर्त्त है वह उतना ही कुशल कहलाता है। तुम्हारी इच्छा है तो मैं इसे सारी धूर्तता, बदमाशी और ठगाई सिखा दूंगा।

यह कह कर मामा भाणेज को अपने साथ लेकर चला आया। चलते-चलते रास्ते में एक नदी आई। नदी में ककड़ियाँ लगी थीं और खरबूजे लगे थे। मामा ने भाणेज से कहा--जाओ,

एक ककड़ी ले आओ। तब भाणेज नदी की ओर गया। उसने देखा--रखवाला चिलम--तमाखू में लगा हुआ है और खेत की तरफ उसका ध्यान नहीं है। इस अवसर से लाभ उठाकर वह एक बड़ी--सी ककड़ी तोड़ कर चुपचाप चला आया।

मामा ने कहा-मैं जंगल जाकर अभी आता हूँ। तू बैठना।

मामा के जाते ही भाणेज ने ककड़ी में डिगरी लगाई और उसके भीतर के भाग को निकाल कर खा लिया। ऊपर से ज्यों की त्यों करके ककड़ी रख दी!

मामा लौटकर आया और उसने ककड़ी को हाथ में लिया तो उसमें समुचित वजन नहीं था। बोला--अरे, इस ककड़ी में वजन नहीं है!

भाणेज ने कहा--मामा, ककड़ी में वजन होता ही नहीं है!

मामा ने ककड़ी काटी तो छिलके ही छिलके निकले। उसमें न गिर था और न बीज ही थे। तब मामा ने कहा--अरे, इसमें तो बीज भी नहीं है।

भाणेज--मामा, आप तो ऐसी बात कह रहे हैं कि गधे को भी हँसी आ जाय! मैं छोटा हूं, फिर भी इतना तो समझता हूँ कि ककड़ी में बीज होते ही नहीं हैं।

मामा समझ गये कि यह तो मेरा ही गुरु है। फिर बोला--मूर्ख, ककड़ी में बीज अवश्य होते हैं। बीज न हो तो ककड़ी पैदा कैसे हो?

भाणेज--आपकी दलीलों से मैं जीत नहीं सकता; किंतु मैं तो यही कहूँगा कि ककड़ी में बीज होते ही नहीं हैं।

मामा--अरे, यह कैसे हो सकता है? तू प्रत्यक्ष का अपलाप करता है!

भाणेज--यह तो अपना-अपना दृष्टिकोण है।

मामा और भाणेज इसी प्रकार वाद-विवाद करते-करते आगे बढ़े। उन्होंने मिलकर एक गाँव में चोरी की। सोना-चांदी लेकर गाँव से बाहर आए। तब मामा ने पूछा--ककड़ी में बीज होते हैं या नहीं?

लड़का बड़ा पक्का था। बोला—मामा, क्यों मुझ से झूठ बुलवाते हो? ककड़ी में तो बीज होते ही नहीं।

मामा को गुस्सा आया। उसने लड़के को रस्सी से बाँध कर एक वृक्ष की शाखा से लटका दिया। फिर कहा--देख, सच-सच कह दे, नहीं तो सिपाही पकड़ कर सुबह तेरी मरम्मत करेंगे।

लड़के ने उस समय भी कहा--जन्म लिया तो मरना तो पड़ेगा ही। फिर जिंदगी को बचाने के लिए झूठ क्यों बोलूँ? ककड़ी में बीज होते ही नहीं तो कैसे कह दूं कि होते हैं?

लड़के को अपनी बात पर दृढ़ देखकर मामा चल दिया और वह पेड़ से लटका रहा। पिछली रात को गाँव में चोरी हो जाने का शोर हुआ और सिपाही चोर की तलाश में इधर-उधर दौड़ धूप मचाने लगे। कुछ सिपाहियों ने लड़के को बँधा देखा और पूछा--'तू कौन है?'

लड़का--तुम्हें क्या दीखता हूँ ?

सिपाही--दीखता तो आदमी है !

लड़का—तो फिर पूछने की बात ही क्यों रह गई ?

सिपाही—अच्छा भाई, अच्छा ! पर तुझे बाँधा किसने है ?

लड़का—उसी ने जो चोरी कर गया !

सिपाही—चोरी कौन कर गया है ?

लड़का—वही जो मुझे बाँध गया है !

सिपाहियों ने घुड़क कर कहा--अबे, सीधी तरह बता ! जानता है हम कौन हैं ? चमड़ी उधेड़ देंगे !

लड़का—मैं सच ही कहता हूँ !

पुलिस के सिपाही सहज छोड़ने वाले नहीं थे। उन्होंने लड़के की खूब मरम्मत की, कान ऐंठे घूसे जमाये ! पर लड़का पक्का गुरुघंटाल था। वह अन्त तक यही कहता रहा--मुझे उसने बाँधा है जो चोरी कर गया है और चोरी वह कर गया है जो मुझे बाँध गया है !

इसी बीच लड़के का मामा, चोरी का माल लेकर चला गया था, पोशाक बदल कर और एक बढ़िया घोड़े पर सवार होकर वहाँ लौट आया। उसने उनकी बातचीत सुनी। फिर सिपाहियों से कहा--यों वश में नहीं आएगा। आप चाहें तो मैं इससे सच--सच कहलवा सकता हूँ ! मुझे एकान्त में इसे ले जाने दो !

मामा ने अलग ले जाकर उससे पूछा--बोल, ककड़ी में बीज होते हैं या नहीं ?

लड़का बोला—मामाजी, कहो तो भगवान् की सौगंद खाजाऊँ कि ककड़ी में बीज नहीं होते !

मामा ने उसे घोड़े पर बिठलाया और ऐसी एड़ लगाई कि घोड़ा हवा हो गया। सिपाहियों ने बहुत खोज की, पर दोनों में से किसी का पता नहीं लगा।

आखिर मामा ने भाणेज को लेजाकर अपनी बहिन को सँभलाया और कहा--बहिन, अपने सपूत को सँभालो। यह मेरा चेला नहीं, गुरु बनने योग्य है !

यह तो दृष्टान्त है इसका अभिप्राय यह है कि दृष्टिकोण जब बदल जाता है तो सत्य भी असत्य और असत्य भी सत्य मालूम होने लगता है। एक को जो सत्य प्रतीत होता है वही दूसरे को असत्य मालूम होता है। दृष्टिभेद के कारण कोई सत्य में तो कोई असत्य में धर्म बतलाता है।

यह तो अपना-अपना दृष्टिकोण है।

कहो भाई, आप किस तरफ रहोगे ?

'सत्य की तरफ महाराज !'

मगर हम तो दोनों तरफ हैं ! आप आश्चर्य करेंगे कि मैं असत्य में भी धर्म मानता हूँ ! कैसे, सुनिए। सत्य में तारने का धर्म है और असत्य में डुबोने का धर्म है। यही बात अठारह पापों में समझनी चाहिए। आपके सामने जो खंभा है, इसमें भी वजन को सँभालने का धर्म है, वस्त्र में लज्जा रखने और गर्मी--सर्दी से बचाने का धर्म है, आग में पकाने--जलाने का धर्म है। इस प्रकार विश्व में एक भी वस्तु नहीं जिसमें कोई धर्म न हो ! यही नहीं, बल्कि प्रत्येक वस्तु में

अनेक-अनन्त धर्म होते हैं ! यही स्याद्वाद सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त वस्तु मात्र में व्यापक है। एकान्तवाद का पूंछड़ा पकड़ने योग्य नहीं है। प्रत्येक वस्तु को विभिन्न दृष्टिकोणों से देखना चाहिए। कल्पना करो कि किसी ने तुम्हें 'साला' कहकर गाली दी। यह गाली सुनकर तुम क्रोध से काँपने लगते हो और गाली देने वाले को मारने-पीटने पर उतारू हो सकते हो। यह दृष्टिकोण का फर्क है। अगर आपके चित्त में उपशम है और दृष्टि में सही तरीके से सोचने की शक्ति है तो आप यह सोचेंगे कि इसने मुझे 'साला कह दिया तो क्या बुरा कह दिया ? समस्त परस्त्रियाँ मेरी बहिनें हैं और इस दृष्टि से मैं साला हूँ ही। मैं क्यों बुरा मानूँ ?

बात यह है कि जिस दृष्टि से वस्तु पर विचार करो वैसी ही वस्तु दृष्टिगोचर होने लगती है। कहा भी है—

यथा दृष्टिस्तथा सृष्टिः।

एक साधुजी किसी गाँव में गये। गाँव के लोग बोले—यहाँ क्यों आ गए ? साधुजी ने कहा—'रास्ता भूल गया !' तब लोगों ने कहा—अच्छा, हम रास्ता बतलाय देते हैं !

साधुजी—आ गए हैं तो रात भर ठहरेंगे !

लोग कहने लगे—नहीं, हम रात नहीं रहने देंगे। तुम हमें मार डालोगे !

साधु—कैसे ? हम तो कीड़ी को भी नहीं मारते !

लोग—हम चोरी करके आजीविका चलाते हैं। आप रहेंगे तो उपदेश दे देंगे। हमने चोरी छोड़ दी तो भूखे मर जाएँगे !

कई लोगों की दृष्टि ऐसी बनी होती है कि सिंह को मार डालना ठीक है; क्योंकि वह गायों और दूसरे छोटे जानवरों को मार डालता है ! अतएव जितने सिंह मिलें, सभी को मौत के घाट उतार देना चाहिए।

और सिंह की दृष्टि यह हो सकती है कि मनुष्य न जाने कितने सिंहों को मारेगा, अतएव मैं मनुष्य को ही क्यों न मार डालूँ ? इस प्रकार मनुष्य की दृष्टि में सिंह हत्यारा है और सिंह की दृष्टि में मनुष्य हत्यारा है।

एक बात तुम्हें अच्छी लगती है, किन्तु दूसरों को बुरी लगती है। जो वस्तु दूसरे को अच्छी प्रतीत होती है, वह तुम्हें बुरी प्रतीत होती है। यह दृष्टि और रुचि की विभिन्नता अनादि-कालीन है और अनन्तकालीन भी है। किसी के मिटाये मिट नहीं सकती ! तुम चाहो कि मुझे जो प्रिय है वही सबको प्रिय होना चाहिए और जो अप्रिय है वह सभी को अप्रिय होना चाहिए तो यह संभव नहीं। ऐसा चाह करके तुम अपने आपको बखेड़े में डाल लोगे। तुम्हारे चित्त में विक्षेप होगा। अतएव तुम इस झगड़े में न पड़ो। तुम अपने मार्ग पर चलो और दूसरों को उनके मार्ग पर चलने दो। सहनशील वृत्ति धारण करते हुए बर्त्ताव करो।

प्रश्न हो सकता है कि क्या कुमार्ग पर चलने वालों को भी नहीं रोकना चाहिए ? यदि ऐसा मान लिया जाय तो दूसरों को उपदेश देना भी बंद कर देना चाहिए ? फिर साधु क्यों दूसरों को उपदेश देकर सुमार्ग पर लाने की चेष्टा करते हैं ?

उत्तर यह कि उपदेश देने की मनाई नहीं है। कुमार्ग पर चलने वालों को सन्मार्ग पर लाना तो महान् पुण्यकृत्य है।

किन्तु यदि कोई मनुष्य उपदेश सुनकर भी अपना मार्ग नहीं बदलता, अनुरोध करने पर भी अपने तौर-तरीके में परिवर्त्तन नहीं करता, तो चित्त को क्षुब्ध नहीं करना चाहिए। मन में क्रोध या आवेश की वृत्ति नहीं जागृत होने देना चाहिए। उपदेश न मानने वाले के प्रति द्वेष का भाव नहीं आना चाहिए, वरन् मध्यस्थ भाव स्थिर रखना चाहिए। कहा भी है—

मध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव !

अर्थात्—हे प्रभो ! मेरी आत्मा में इतना बल प्रकट हो जाय कि मैं विपरीत आचरण करने वालों पर भी समभाव रख सकूँ !

जरा विचार करो कि ऐसा किये बिना तुम अपने चित्त की शान्ति को किस प्रकार कायम रख सकते हो ? उपदेशक हितभावना से उपदेश देता है। मानने वाला माने या न माने, यह उसकी इच्छा पर निर्भर है। मानेगा तो उसको हित होगा, न मानेगा तो हित न होगा। किन्तु करुणा बुद्धि से उपदेश देने वाले के हित को तो कोई रोक ही नहीं सकता। फिर तुम क्यों क्षोभ करते हो ? जैसे तुम अपनी इच्छा पर चलते हो, वैसे ही दूसरा भी अपनी इच्छा पर चलेगा। इसमें असन्तुष्ट और रुष्ट होने का कोई कारण नहीं है।

तुम चाहो कि सारे संसार को मैं अपनी इच्छा पर चला लूँ, सो कदापि होने वाला नहीं है। सबको वैकुंठ या मोक्ष में पहुँचा देने का विचार पूरा नहीं हो सकता। तुम चाहो कि मैं सारे नगर या गाँव में शान्ति कर दूँ तो यह भी कठिन है।

अगर तुम बलात् दूसरों को अपनी इच्छा के अनुसार चलाना चाहोगे तो दूसरे भी तुम्हें अपनी इच्छा के अनुसार चलाना चाहेंगे। इस अनुचित और अवांछनीय चाह का नतीजा क्या निकलेगा ? आपस में खींचतान होगी, रस्साकशी होगी। तुम दूसरे को अपनी ओर खींचोगे और दूसरा तुम्हें अपनी ओर खींचेगा। तुम्हारी शान्ति भंग होगी और उसकी भी शान्ति भंग होगी।

अनन्तशक्ति के धनी तीर्थङ्कर भगवान् भी समस्त संसार के प्राणियों को सन्मार्ग पर लाने में समर्थ नहीं होते, तो तू किस खेत की मूली है ? तेरा सामर्थ्य कितना-सा है ? भगवान् भलाई की राह बतला देते हैं और सब जीव उस पर चलने या न चलने में स्वतंत्र हैं। तू भी ऐसा ही कर सकता है। जिसे तू सन्मार्ग समझता है, उसे दूसरों पर प्रकट कर दे। दूसरे मान जाएँ तो ठीक है, न मानें तो भी व्याकुल और क्षुब्ध न हो। राग-द्वेष में मत पड़। हर समय समभाव को कायम रख कर चल।

न सब मनुष्य साधु हो सकते हैं, न सब नरक में जा सकते हैं। सब की अपनी-अपनी करनी है और वह अलग-अलग है। बाप किधर ही जायगा और बेटा किधर ही जायगा। सब की करनी न आज तक एक-सी हुई है और न कभी होगी ही। एक दूसरे का साथ न छोड़ने वाले दो सगे भाइयों की करनी में भी कितना वृहत् अन्तर होता है ? राम और लक्ष्मण को ही देखो। दोनों की वृत्ति में कितना अन्तर था ? इसी प्रकार पति नरक में चला जाता है और पत्नी स्वर्ग-मोक्ष पा लेती है। काली, महाकाली और सुकाली को देखो और उनके पति

सम्राट् श्रेणिक को देखो ! कहाँ नरक और कहाँ मोक्ष !

तो भाई यह तो अनादिकाल से चला आ रहा है। अतएव राग-द्वेष धारण करके अपनी आत्मा को कलुषित मत करो। अपने समभाव की रक्षा करो और दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करो। ऐसा करने से ही तुम्हारा कल्याण होगा।

जैनधर्म का स्याद्वाद सिद्धान्त बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। आम तौर पर लोग सम्पूर्ण सत्य को समझ नहीं पाते और सत्य के एक अंश को ही पकड़ कर सम्पूर्ण सत्य समझ लेते हैं। जब अनेक व्यक्ति इसी प्रकार एक-एक अंश को पकड़ लेते हैं तो उनके विचार भिन्न-भिन्न होते हैं और विचारों की वह भिन्नता विवाद को उत्पन्न करती है। विवाद में अभिनिवेश-आग्रह-का समावेश हो जाता है और उस अवस्था में संघर्ष छिड़ जाता है। इस प्रकार के संघर्ष ने अतीत काल में अनेकानेक अनर्थ उत्पन्न किये हैं और आज भी हो रहे हैं। इन संघर्षों को मिटाने के लिए जैनधर्म ने महान् सिद्धान्त हमें दिया है और वह सिद्धान्त स्याद्वाद है।

स्याद्वादसिद्धान्त को समझना सरल नहीं है और फिर उसे समझ कर अमल में लाना और भी कठिन है। अन्तःकरण में सत्य के प्रति असीम अनुराग हो, परदृष्टि को समझने का धैर्य हो, उदारता हो और समभाव हो तो स्याद्वाद समझ में आ सकता है।

नदी के एक तट पर एक आदमी खड़ा है और दूसरे तट पर दूसरा आदमी। पहला दूसरे से कहता है-'मैं इस पार हूँ

और तू उस पार है।'इसी प्रकार दूसरा पहले से कहता है-'नहीं' तू 'मिथ्या कहता है। मैं इस पार हूँ और तू उस पार है।'

अब तुम्हें 'इस पार' और 'उस पार' का निर्णय कर देने के लिए पंच नियत कर दिया जाय तो क्या निर्णय दोगे ? किसको सच्चा और किसको झूठा कहोगे ?

अगर तुम निष्पक्ष पंच हो तो यही निर्णय देना पड़ेगा कि दोनों अपने-अपने दृष्टिकोण से सच्चे हैं।

रामचन्द्रजी पिता थे या पुत्र थे ? कहना पड़ेगा कि वे अपने पिता दशरथ की अपेक्षा पुत्र थे और अपने पुत्रों-लव और कुश की अपेक्षा पिता थे। एकान्त रूप से पिता मानने पर वे दशरथ के भी पिता हो जाएँगे और एकान्त पुत्र मानने से लव-कुश के भी पुत्र हो जाएँगे। यह दोनों एकान्त मिथ्या हैं। अतएव यहाँ अनेकान्तवाद की ही शरण ली जाती है। यही बात सर्वत्र समझनी चाहिए। अनेकान्तवाद या स्याद्वाद का सहारा लिये बिना वस्तुतत्त्व की ठीक-ठीक व्यवस्था होना संभव नहीं और दर्शनशास्त्रों का संघर्ष भी मिटना संभव नहीं है।

वास्तव में मनुष्य को धार्मिक दृष्टिभेद के कारण उत्ते-जित नहीं होना चाहिए। सदा धैर्य और औदार्य से काम लेकर सत्य को समझने और समझाने का प्रयत्न करना चाहिए।

एक बार एक सज्जन मेरे पास आए। उन्होंने नमस्कार किया और मैंने कहा- दया पाओ' लालाजी ! अकेले ही आए हो ?'

लालाजी ने कहा–नहीं, एक आदमी और साथ है। वह नीचे खड़ा हुआ है। मेरे साथ नहीं आया।

मैंने पूछा—क्यों ?

लालाजी—वह बेमज़हब है।

मैं—ले आते तो क्या हानि थी ?

लालाजी—वह धर्मगुरुओं को नहीं मानता।

मैं—नहीं मानता का मतलब क्या ? अधिक से अधिक यही तो कि वह मुझे हाथ नहीं जोड़ेगा ! न सही। आने में क्या हर्ज है ? क्या मज़हब वाले और बेमज़हब आसपास में बातचीत भी नहीं कर सकते ? आमने-सामने बैठ भी नहीं सकते ?

आखिर लालाजी ने उसे बुलाया और वह आ गया। तब मैंने उससे कहा–लोग कहते हैं कि मज़हबी लोगों के विचार संकीर्ण होते हैं; पर मैं देखता हूँ कि बेमज़हबों के विचार तो मज़हबी लोगों से भी ज्यादा संकीर्ण हैं ! क्या बात है ? क्या यहाँ आने से आपके विचारों को मज़हब की छूत लग जाने का डर है ?

वह व्यक्ति कुछ लज्जित-सा होकर मुस्कराने लगा।

मैंने कहा—अगर आपको कोई परहेज़ न हो तो हम आपसी तौर पर बातचीत करें ?

उसने कहा–जी नहीं, मुझे कोई ऐतराज़ नहीं है।

इस प्रकार उसकी स्वीकृति लेकर मैंने कहा-आप बेमज़हब हैं, इसका अर्थ क्या है ?

उसने कहा-हम किसी पंथ को या धर्म को नहीं मानते।

मैं बोला–ठीक है। हमारा मज़हब है कि किसी प्राणी को कष्ट न पहुँचाओ, झूठ न बोलो, चोरी न करो, व्यभिचार न करो,

लोभ-लालच न करो, गुस्सा न करो, घमंड न करो, छल-कपट न करो। आप इस मज़हब को नहीं मानते हैं ?

उसने कहा-यह सब बातें तो हम भी मानते हैं।

मैंने कहा-तो फिर आपके और हमारे इन सिद्धान्तों में कोई अन्तर नहीं है। फिर आप अपने को बेमज़हब भले कहते रहो, हो तो हमारे ही मज़हब में!

सारांश यह है कि लोग व्यर्थ ही नाम के झगड़े में पड़ जाते हैं, तत्त्व का विचार नहीं करते। अगर नाम के पर्दे को हटाकर तत्त्व पर विचार किया जाय और दूसरों की दृष्टि को शान्ति के साथ समझने का धैर्य रक्खा जाय तो मतभेद प्रायः समाप्त हो जाएँ।

तुम पानी को 'वारि' कहते हो और दूसरा 'वाटर' कहता है; तुम परमात्मा को 'ईश' कहते हो और दूसरा 'ईशु' या 'ईसा' कहता है, कोई राम कहता है कोई रहीम कहता है, किन्तु यह सब तो शब्द ही हैं। यह परमात्मा के भाव को व्यक्त करने वाले शब्द हैं, स्वयं परमात्मा नहीं हैं। परमात्मा तो वह एक ही है जिसके लिए इन शब्दों का और दूसरे हजारों शब्दों का प्रयोग किया जाता है। फिर झगड़े की क्या बात है ? हाँ, परमात्मा के रूप गुणों के सम्बन्ध में अवश्य विचार करो और जिससे परमात्मा के परमात्मापन में कोई बाधा उपस्थित न हो, वैसा उसका रूप मानो। अभी परमात्मा के मुख्य गुण बतलाये जा चुके हैं। उन गुणों से युक्त शुद्धात्मा का कुछ भी नाम हो, वही परमेश्वर और पूज्य है।

अगर इस तथ्य को समझ कर तुम परमात्मा की भक्ति करोगे तो अक्षय आनन्द के भागी होओगे।

४-१-४६ }
पाली }

१३

# नाम और रूप २

स्तुति:—

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्यमसंख्यमाद्यं,
ब्रह्माणमीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम् ।
योगीश्वरं विदितयोगमनेकमेकम्,
ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदंति संतः ॥

भगवान् ऋषभदेवजी की स्तुति करते हुए आचार्य महाराज फर्माते हैं कि-हे सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, अनन्तशक्तिमान्, पुरुषोत्तम, ऋषभदेव भगवन् ! आपकी कहाँ तक स्तुति की जाय ? प्रभो ! कहाँ तक आपके गुण गाये जाएँ ?

भगवान् के अनेक नाम हैं। कल बतलाया गया था कि परमात्मा के अनेक नाम हैं। परमात्मा में विद्यमान अनन्त गुणों में से प्रत्येक गुण के आधार से एक नाम होता है; अतएव उसके अनन्त नाम हो सकते हैं। हम उन नामों में से

थोड़े-से नाम जानते हैं और इसी कारण परिमित नामों से ही परमात्मा की स्तुति करते हैं।

सूक्ष्म मति से विचार किया जाय तो परमात्मा अनिर्वचनीय है। उसका स्वरूप शब्दों का अगोचर है। भाषा में ऐसी शक्ति नहीं कि वह परमात्मा के स्वरूप का निरूपण कर सके। जहाँ बुद्धि और तर्क का भी प्रवेश नहीं है वहाँ शब्दों का प्रवेश हो ही कैसे सकता है? इसीलिए आचारांग सूत्र में तीर्थंकर भगवान् स्वयं ही फर्माते हैं कि शुद्ध आत्मा के स्वरूप को न मति द्वारा जाना जा सकता है, न शब्द द्वारा ही।

मई तत्थ न गाहिया
तक्का तत्थ न विज्जन्ते।

परमात्मा का निश्चय बुद्धि से करना सम्भव नहीं है। तर्क के तीर भी वहाँ तक पहुँच नहीं सकते। वह शब्दागोचर तत्त्व शब्दगम्य भी नहीं है।

प्रश्न हो सकता है कि परमात्मा को अगर इन साधनों के द्वारा नहीं जाना जा सकता तो फिर किस साधन से जाना जा सकता है? इस प्रश्न का उत्तर भी उन ज्ञानियों ने दिया है। उनका कहना है कि परमात्मा का स्वरूप इन उपर्युक्त साधनों से नहीं किन्तु साधना के द्वारा ही जाना जा सकता है। वह अनुभूति गम्य है। उस अनुभूति को जागृत करने के लिए अन्तःकरण को विषय-वासनाओं से व्यावृत्त करना पड़ता है, विकारों को दूर करना पड़ता है और और सांसारिक कामनाओं के कारण चंचल बने हुए चित्त को एकदम शान्त करना पड़ता है। कहा है—

परमानन्दसंयुक्तं, निर्विकारं निरामयम् ।
ध्यानहीना न पश्यन्ति, निजदेहे व्यवस्थितम् ।
अनन्तसुखसम्पन्नं, ज्ञानामृतपयोधरम् ।
अनन्तवीर्यसम्पन्नं, दर्शनं परमात्मनः ।

× × × ×

आनन्दरूपं परमात्मतत्त्वं,
समस्तसंकल्पविकल्पमुक्तम् ।
स्वभावलीना निवसन्ति नित्यं—
जानाति योगी स्वयमेव तत्त्वम् ॥

परमात्मा परमानन्द से सम्पन्न है, विकारों की सूक्ष्मतम रेखा भी उसमें नहीं है और निरामय ( सब प्रकार के रोगों से अतीत ) है। मगर आश्चर्य है कि अपने ही शरीर में स्थित होने पर भी ध्यानहीन जन उसके दर्शन नहीं कर पाते। जिन योगी जनों ने उसके दर्शन किये हैं, उन्होंने बतलाया है कि वह परम तत्त्व अनन्त सुख से समृद्ध है। ज्ञान रूपी अमृत बहाने वाला मेघ है। अनन्त वीर्य से विभूषित है। समस्त संकल्पों एवं विकल्पों से मुक्त उस परम-तत्त्व को वही योगी जन जान पाते हैं, जो अपने स्वभाव में-आत्मभाव में-निरन्तर लीन रहते हैं।

इस प्रकार शब्दातीत परमतत्त्व ध्यानगम्य है। फिर भी लोकव्यवहार के लिए हम उसके विषय में शब्दों का प्रयोग करते हैं। शब्द कोई भी हो, परमात्मा के स्वरूप को परिपूर्ण रूप में व्यक्त नहीं कर सकता।

यहाँ आचार्य महाराज ने परमात्मा के कुछ और नामों का उल्लेख किया है। परमात्मा का एक नाम 'अव्यय' है। 'अव्यय' का अर्थ है--जिसका व्यय न हो, अर्थात् विनाश न हो, जिसमें किसी भी प्रकार का विकार न हो।

कुछ लोगों का खयाल है कि मुक्तात्मा आवश्यकता पड़ने पर पुन: संसार में अवतरित होते हैं, वे शरीर को धारण करके अपने शासन को फिर ठीकठाक करते हैं। परन्तु यह मान्यता विचार करने पर सही नहीं मालूम होती। ऐसा करने वाला 'अव्यय' नहीं कहला सकता।

परमात्मा 'विभु' अर्थात् व्यापक है। व्यापकता के विषय में कल विवेचन किया जा चुका है। वही व्यापकता यहाँ समझनी चाहिए। भगवान् का ज्ञान समस्त भावों को परिपूर्ण रूप से जानता है।

भगवान् 'अचिन्त्य' है। बतलाया जा चुका है ईश्वर का स्वरूप बुद्धि-ग्राह्य नहीं है, मन से अगोचर है। केवल स्वानुभूतिगम्य है।

भगवान् 'असंख्य' भी हैं। उनकी संख्या नहीं हो सकती। जो अनंत गुणों के भण्डार हैं, उनकी संख्या संभव नहीं है। फिर अनादिकाल से आत्माएँ परमात्मपद को प्राप्त करती आ रही हैं। अनन्त आत्माओं ने सिद्धि प्राप्त की है और उन सबका अस्तित्व पृथक्--पृथक् है। अतएव उनकी गणना नहीं हो सकती।

भगवान 'आद्य' हैं। भक्तामर स्तोत्र भगवान् ऋषभदेव की स्तुति है। ऋषभदेव स्वामी इस अवसर्पिणी काल के प्रथम

तीर्थंकर थे। इस दृष्टि से वे 'आद्य' हैं। 'आद्य' का दूसरा अर्थ है—श्रेष्ठ। यद्यपि श्रेष्ठता विविध दृष्टियों से विविध प्रकार की मानी जाती है, किन्तु वास्तविक और स्थायी श्रेष्ठता आत्मोत्कर्ष में ही है। भगवान आत्मोत्कर्ष की पराकाष्ठा को प्राप्त हैं, अतएव उन्हें 'आद्य' कहते हैं।

भगवान् 'ब्रह्मा' भी हैं। प्रत्येक तीर्थंकर धर्ममार्ग की प्रवृत्ति करते हैं, मोक्षमार्ग का विधान करते हैं, अतएव वह विधाता या ब्रह्मा हैं। फिर भगवान् ऋषभदेव तो मानव समाज के आदि व्यवस्थापक भी हैं उन्होंने भोगभूमि की नष्ट होती हुई व्यवस्था के समय में कर्मभूमि की व्यवस्था की। मनुष्य जाति को जीवन निर्वाह के साधनों का उत्पादन करना और प्रयोग करना भी सिखलाया। विवाह प्रथा और राज्य व्यवस्था की नींव डाली। खेती करना और भोजन पकाना आदि सिखलाया। इस कारण वही सच्चे ब्रह्मा हैं। इस विषय का विस्तृत विवेचन पहले आ चुका है।

भगवान् 'ईश्वर' हैं। उनका आत्मिक ऐश्वर्य सर्वोत्कृष्ट और अपरिमित है। संसार का क्षणभंगुर ऐश्वर्य वास्तव में ऐश्वर्य नहीं है; सच्चा ऐश्वर्य आत्मा की अनन्त और असीम शक्तियों में अन्तर्निहित है। आत्मा के गुणों का अक्षय भंडार ही सच्चा वैभव है। उसे प्राप्त कर चुकने वाले ही परमात्मा कहलाते हैं।

'अनन्त' विशेषण परमात्मा के लिए ही सब से अधिक उपयुक्त है। बतलाया जा चुका है कि आत्मा की अनन्त शक्तियाँ हैं और सिद्ध हो जाने पर उनमें से प्रत्येक शक्ति अनन्त हो जाती है। उनके किसी भी गुण की सीमा नहीं है।

ज्ञान अनन्त, दर्शन अनन्त, वीर्य अनन्त, सिद्धत्व अनन्त, स्थिति अनन्त! अतएव परमात्मा का 'अनन्त' नाम है।

भगवान् 'अनंगकेतु' है। उन्होंने कामवासना को, जो साधारण प्राणियों को अजेय प्रतीत होती है, पूर्ण रूप से जीत लिया है। कामवासना पर विजय प्राप्त किये बिना आत्मा का उत्थान नहीं होता और न वह अपने शुद्ध स्वरूप में प्रकट ही होता है। कामवासना ही वह बाधा है जिसके कारण आत्मा सिद्धि प्राप्त नहीं कर पाता। यह कामना प्रवाह रूप से, अनादिकाल से, आत्मा पर हावी हो रही है। बड़े--बड़े बलवान् और शूरवीर सेनापति भी काम के किंकर होते हैं। कामवासना की एक छोटी--सी चिनगारी भी योगियों को योगभ्रष्ट कर देती है, तपस्वियों की तपस्या पर पोता फेर देती है और ज्ञानियों के ज्ञान को धूल में मिला देती है। काम-वासना के किंकर बन कर लोग कितनी यातनाएँ भुगतते हैं! उन सबका वर्णन करना भी शक्य नहीं है। यह कहना भी अतिशयोक्ति नहीं कि संसार के दुःखों का प्रधान कारण काम-विकार ही है। कामवृत्ति की आग की लपलपाती हुई ज्वालाएँ मनुष्य के कल्याण को, विवेक को, चातुर्य को और अन्यान्य समस्त सद्गुणों को भस्म कर देती हैं। शास्त्र कहते हैं:—

सल्लं कामा विसं कामा, कामा आसीविसोवमा।
कामे पत्थयमाणा आकामा जंति दुग्गइं॥

—उत्तराध्ययन.

यह कामभोग हृदय में चुभे हुए काँटे के समान दुःखदायी हैं, विष के समान संयम--जीवन का विनाश करने वाले हैं यह

साँप के समान भयानक हैं काँटा चुभने के बाद ही दुःख देता है, विष सेवन करने के पश्चात् ही जीवन को नष्ट करता है और साँप स्पर्श होने पर ही काटता है, किन्तु कामभोगों की बात निराली है! जो लोग काम--भोगों का सेवन नहीं करते किन्तु उनकी कामना करते हैं--अभिलाषा करते हैं, उन्हें भी ये नरक--तिर्यञ्च गति में ले जाते हैं!

शास्त्रकारों के इस कथन से कामभोगों की भयंकरता का पता चल सकता है। पूरी तरह कामवासना पर विजय प्राप्त करने वाले महापुरुष ही वीतराग होते हैं और जो वीत--राग पद प्राप्त कर लेते हैं, उन्हें ही सर्वज्ञता और ईश्वरता प्राप्त होती है। अतएव यहाँ भगवान् को अनंगकेतु कहा गया है।

भगवान् योगीश्वर हैं। उन्होंने योग के समीचीन अर्थ को जाना है। वे ज्ञानस्वरूप हैं--चिन्मय हैं, एक रूप होकर भी अनेक रूप हैं। सर्वथा अमल हैं।

परमात्मा के पूर्ण गुणों का वर्णन करने की किसी में शक्ति नहीं है। उनका एक--एक गुण अनन्त और अपार है। जैसा कि अभी कहा जा चुका है, वाणी असमर्थ है प्रभु के गुणों का वर्णन करने में! कहा भी है—

पत्रं व्योम मसी महाम्बुधिसरित्कुल्यादिकानां जलं।
लेखिन्यः सुरभूरुहा सुरगणास्ते लेखितारः समे ॥
आयुः सागरकोटयो वहुतराः स्फीता तथापि प्रभो!
नैकस्यापि गुणस्य ते जिन! भवेत्सामान्यतो लेखनम् ॥

अर्थात्—सम्पूर्ण आकाश को कागज बना लिया जाय, महासागर नदी आदि समस्त जलाशयों के जल को स्याही बना ली जाय, कल्पवृक्षों को कलम बना लें, समस्त देवगण एक साथ लिखने बैठ जाएँ; करोड़ों सागरोपम पर्यन्त काल तक वे लिखते रहें; तो भी हे प्रभो! हे जिननाथ! आपके एक गुण का, सामान्य रूप से भी उल्लेख नहीं कर सकते!

इस प्रकार की अमित महिमा से मण्डित वीतराग प्रभु ही इस जीव के लिए शरणभूत हैं। उन्हीं का आश्रय लेकर जीव संसार-सागर से पार उतरते हैं! विमल विभु की भक्ति ही आत्मा को विमल बनाती है।

भाइयो! अपना कल्याण चाहते हो तो वीतराग प्रभु की भक्ति की लहरों से अपने अन्तःकरण को विमल बनाओ। भक्ति के निर्झर का शुचि स्रोत चित्त में बहने दो! जानते हो भक्ति का अर्थ क्या है? सच्चा भक्त कौन कहलाता है? कहने को तो सभी अपने-अपने को भगवान् का भक्त बतलाते हैं; कोई यह मानने को तैयार नहीं कि हम भगवान् के भक्त नहीं हैं; किन्तु सच्चा भक्त वही है जिसे परमात्मा को कभी याद नहीं करना पड़ता। जो परमात्मा को याद करे, वह सच्चा भक्त नहीं है। ऐसा सच्चा भक्त बनना बहुत कठिन है।

आप सोचते होंगे कि मैं कैसी विपरीत बात कह रहा हूँ? भगवान् का स्मरण करने वाला भक्त होता है, यह तो सदा से सुनते आ रहे हैं; किन्तु मैं कह रहा हूँ कि ऐसा करने वाला सच्चा भक्त नहीं है! तो फिर क्या परमात्मा को स्मरण न करने वाला सच्चा भक्त समझा जाय?

हाँ, बात यही है। परमात्मा को समय-समय पर याद करने वाले परमात्मा के सच्चे नहीं, कच्चे भक्त हैं। सच्चा भक्त वह है जो परमात्मा को कभी भूलता ही नहीं है! और जो कभी भूलता नहीं, उसे याद करने की भी आवश्यकता नहीं होती। याद तो उसी की जाती है, जिसकी बीच में याद भुला दी जाय! विस्मरण पूर्वक ही स्मरण होता है। कहा भी है—

पलक न विसरूं चितारूं नहीं,
सदा अखण्डित ध्यान।
धर्म जिनेश्वर मुझ हिवड़े बसो ॥

सच्चा भक्त वही है जो पल भर के लिए भी परमात्मा को विस्मरण नहीं करता, जिसके अन्तःकरण में परमात्मा की दिव्य ज्योति सतत जागृत ही रहती है। ऐसे भक्त को कभी स्मरण करने की आवश्यकता ही नहीं होती। जैसे पद्मिनी स्त्री क्षण भर के लिए भी अपने पति को नहीं भूलती है, उसी प्रकार भगवान् का भक्त भगवान् को नहीं भूलता।

कोई स्त्री पति के नाम की माला जपती रहे किन्तु समुचित गृहव्यवस्था न करे अर्थात् अपने कर्त्तव्य का पालन न करे और पति को समय पर रोटी बना कर भी न दे तो उसे आप क्या कहेंगे? आप दुकान से भूखे-प्यासे आये हैं और श्रीमतीजी आसन जमाए बैठी आपके नाम की माला जप रही हैं! प्यास से आपका गला सूख रहा है, पर आपको पानी नहीं मिल रहा है! पेट में चूहे डंड पेल रहे हैं किन्तु रसोई-घर शान्त दिखलाई दे रहा है! ऐसी स्थिति में आप प्रसन्न होंगे या अप्रसन्न होंगे?

इसके विपरीत, दूसरी स्त्री पति के नाम की माला तो नहीं जपती, पर अपने कर्त्तव्य का पालन करने में अणुमात्र भी प्रमाद नहीं करती; समय पर भोजन की व्यवस्था कर देती है, बाल--बच्चों की सुव्यवस्था एवं सार--सँभाल कर लेती है, तो बतलाइए आप दोनों में से किसे अच्छा कहेंगे ?

इसी प्रकार जो 'णमो अरिहंताणं' की माला तो फेरता है, किन्तु भगवान् की आज्ञा नहीं मानता, अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता अर्थात् झूठ, चोरी व्यभिचार आदि कार्य करता है, तो क्या भगवान् उस पर प्रसन्न होंगे ? जब तुम भी अपनी आज्ञा की अवहेलना करने वाली स्त्री पर प्रसन्न नहीं होते तो ईश्वर कब प्रसन्न होने वाला है ?

भगवान् का नाम जपने मात्र से भगवान् प्रसन्न नहीं होता, अपितु उसके हुकम के मुताबिक चलने से ही वह प्रसन्न होता है। कई लोग नाम ले-ले कर प्रसन्न होते हैं और समझते हैं कि हमने भगवान् को रिझा लिया है, पर यह उनका भ्रम है। वे मोक्ष के मार्ग पर नहीं हैं। मुक्ति के अनन्त ऐश्वर्य के भागी वह होंगे जो भगवान् द्वारा प्रदर्शित सत्य मार्ग पर चलेंगे ! उन्हीं का कल्याण होगा और उन्हीं पर भगवान् की प्रसन्नता की वर्षा होगी !

कोई मनुष्य ताजीरात हिन्द के पोथे को माथे पर रक्खे फिरे और फिर चोरी करे ! कोई पूछे तो कहे कि मैं जानता हूँ मेरे सिर पर कानून की पुस्तक है, तो क्या वह दंड का भागी नहीं होगा ? इसी प्रकार जो कहने को तो कहता है कि राम राम हमारे माथे पर है; किन्तु चोरी करता है, अनुचित तरीके से रुपये बटोरता है, व्यभिचार करता है, तो क्या वह सज़ा नहीं पाएगा ?

भगवान् ने फर्माया है कि सही रास्ते पर चलो। कुपथ पर मत चलो। प्रभु के इस आदेश के अनुसार चलने वाला ही भगवान् का सच्चा भक्त है।

कल्पना करो जंगल में कोई आदमी गाड़ी ले जा रहा है। उसने ठीक रास्ता छोड़ दिया है और ऊबड़खाबड़ रास्ता अंगीकार किया है। कोई जानकार उससे कहता है—भाई, तुम सही और अच्छा मार्ग छोड़ कर इस गड्हों से परिपूर्ण गलत मार्ग से न जाओ; फिर भी वह अपनी गाड़ी चलाये जा रहा है! वह थोड़ा आगे जाता है और किसी गड्हे में गिर कर गाड़ी का धुरा टूट जाता है। अब न गाड़ी आगे बढ़ती है, न पीछे लौट सकती है। वह परेशान होता है और भूख-प्यास का भी दुःख उठाता है। पश्चात्ताप करता है-हाय, मैं मना करने पर भी न माना! मेरी अक्ल मारी गई थी! मगर अब पश्चात्ताप करने से भी बिगड़ी बात नहीं बनती।

इसी प्रकार मनुष्य को मानव जन्म रूपी यह गाड़ी मिली है। मन इसे हांकने वाला है। तीर्थंकर भगवान् और उनके आदेशवर्त्ती सद्गुरु कहते हैं—अरे गाड़ीवान, सँभल कर चलना! धर्म का सन्मार्ग छोड़ कर गलत मार्ग पर मत जाना। यथा—

लड़के! गाड़ी धीरे-धीरे हांकना!
गाड़ी तेरी रंग-रंगीली........

यह गाड़ी अनूठी है। बहुत सुन्दर है। इसमें कानों के टेलीफोन लगे हैं और आँखों की खुर्दबीन लगी है। इस गाड़ी

को चलाओ तो सावधानी से चलाना, सावधानी से चलोओगे तो अपने लक्ष्य पर पहुँच जाओगे—

तेरे पाने को निर्वाण, मिली तन-बग्घी सुन्दर आन ॥टेर॥

जैसे अन्य गाँव जाने के लिए गाड़ी चाहिए, उसी प्रकार मोक्ष में जाने के लिए मानवदेह चाहिए। इन मानवदेह रूपी गाड़ी में चिदानन्दजी विराजमान हैं। इसका संचालक मन है। चिदानन्दजी गाफिल रहेंगे तो हांकने वाला इसे ऊबड़खाबड़ में ले जायगा! इस गाड़ी के घोड़े कौन हैं?

चंचल चपल इन्द्रिय के घोड़े,
विषियों हित ये चौदिश दौड़े।
लगाओ इनके ज्ञान लगाम ॥१॥

हे मर्त्य! तेरी गाड़ी पाँच घोड़ों की बग्घी है। ये पाँच घोड़े हैं—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय और स्पर्शनेन्द्रिय! यह घोड़े अत्यन्त लोलुप हैं। अच्छा खाने को देखते हैं तो इधर-उधर भाग जाते हैं। जैसे कान बाजे की मधुर ध्वनि सुनने को, आँखें रूप-सौन्दर्य देखने को, घ्राण सौरभ का उपभोग करने को, रसना सुस्वादु वस्तुओं का सुधोरस पान करने को और स्पर्शेन्द्रिय सुखद स्पर्श पाने को उद्यत रहती है! पाँचों इन्द्रियाँ अपने-अपने योग्य विषयों के लिए इतनी लालायित रहती हैं कि उन्हें हित-अहित का कोई खयाल नहीं होता। वे परिणाम का तनिक भी विचार नहीं करतीं। उनकी दौड़धाम से गाड़ी की क्या दशा होगी, चिदानन्दजी की कितनी हानि होगी, गाड़ी कब, कहाँ और किस

गड्ढे में पड़ कर चकनाचूर हो जाएगी, आदि-आदि का विचार इन घोड़ों को नहीं। इन्हें तो हरा-हरा घास चाहिए! इनकी लालसा तृप्त होनी चाहिए। गाड़ी जाय जहन्नुम में, गाड़ीवान जाय भाड़ में!

भगवान् ने बतलाया है कि इन्द्रिय रूपी अश्वों को कुपथ पर जाने से रोकने के लिए ज्ञान की लगाम लगानी चाहिए। ज्ञान की लगाम लगाये बिना यह स्वार्थी घोड़े काबू में नहीं रह सकते। लगाम थोड़ी-सी भी ढीली डाली नहीं कि ये मार्ग छोड़ कर इधर-उधर दौड़ जाएँगे। तेरी गाड़ी की धुरी टूट जायगी-आयुष्य भंग हो जायगा और तू रोएगा, पश्चात्ताप करेगा। फिर तेरी क्या गति होगी?

देखो, प्रचण्ड तेज का धनी, विपुल बलशाली राजा रावण उत्पथ पर चला तो क्या परिणाम निकला? महाभारत के कीचक की क्या दुर्दशा हुई? सचमुच जो अपने इन्द्रिय-अश्वों को संयत नहीं रखता और स्वच्छन्द बना देता है, उसकी दशा अति दयनीय होती है! उसके नाम पर संसार थूकता है और उसकी आत्मा को नरक-निगोद की दुस्सह यातनाएँ भुगतनी पड़ती हैं। इसी कारण संसार के समस्त धर्मशास्त्र एक स्वर से यही आदेश देते हैं कि—सोचो, समझो; अपने कल्याण और अकल्याण का विवेक करो और कुपथ की ओर मत जाओ। अपनी इन्द्रियों पर काबू रक्खो। पाँचों इन्द्रियों के विषयों की लोलुपता का त्याग करो। धर्म के पथ पर चलो। यही पथ तुम्हें अपने लक्ष्य तक पहुंचाएगा। इसी आदेश पर चलो। इन्द्रियों को वश में रखने के लिए ज्ञान चाहिए और सद्विचार तथा पावन वातावरण चाहिए। ज्ञान, सद्विचार

और पवित्र वातावरण की त्रिवेणी सत्समागम से मिलती है। अतएव तुम कुसंगति से बचो। विषयलोलुप, स्वच्छन्द आचार-विचारवान्, अज्ञान और अभद्र लोगों के सम्पर्क से अच्छे-अच्छे भी बिगड़ जाते हैं और संयमसम्पन्न, ज्ञानवान् एवं भद्र पुरुषों की संगति से बुरे से बुरे लोग भी सुधर कर सज्जन बन जाते हैं।

एक कौवा समुद्र के तट पर गया। वहाँ एक हंस के साथ उसकी मित्रता हो गई। दोनों आपस में मिलते-जुलते रहते थे। एक दिन कौवा ने कहा—मैं हमेशा तुम्हारे यहाँ आता हूँ और तुम मेरा स्वागत करते हो; पर मुझे तुम्हारा सन्मान करने का अवसर नहीं मिला। आज तुम मेरे यहाँ चलो!

हंस ने कौवे की बात मान ली। वह उसके साथ हो लिया। दोनों आकर एक वृक्ष पर बैठे। जिस वृक्ष पर बैठे वह घनी छाया वाला था। अतएव एक राजा भी उसी वृक्ष की छाया में आकर ठहर गया। कौवा ठीक राजा की सीध में, ऊपर डाली पर बैठा था! उसने बीट की और उड़ कर दूसरे वृक्ष पर बैठ गया। बीट राजा के सिर पर गिरी। राजा को गुस्सा आया। उसने निशाना ताक कर हंस को तीर मारा। तीर लगते ही हंस घायल होकर नीचे गिर पड़ा और मरते-मरते बोला—

> नाहं काको महाराज! हंसोऽहं विमले जले।
> नीच संगप्रसंगेन, मृत्युरेव न संशयः॥

हे राजन्! मैं कौवा नहीं हूँ बीट करने वाला! मैं तो समुद्र के निर्मल नीर में रमण करने वाला हंस हूँ। लेकिन इसमें

तुम्हारा दोष नहीं है। नीच की संगति करने का फल मुझे मिला! नीच की संगति करने से मौत के सिवाय और क्या मिल सकता है!

भाइयो! आत्मा हंस के समान अपने निर्मल स्वभाव में रमण करने वाला है, परन्तु इन्द्रियों के संसर्ग से विषय-वासना में पड़ जाता है तो अनेक प्रकार की मुसीबतें झेलता है। चौरासी के चक्कर में फँस जाता है। जन्म-मरण के ऊपर क्लेशों का भाजन बनता है। अतएव मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी इन्द्रियों को निरन्तर वश में करने का प्रयत्न करता रहे और सत्समागम में ही अपना समय व्यतीत करे।

सत्समागम से मनुष्य किस प्रकार धर्म-मार्ग पर आरूढ़ होता है और दृढ़तापूर्वक आगे बढ़ता है, यह जानना हो तो विजया कुमारी और विजयकुमार की उज्ज्वलतम जीवनी पर विचार करो। उनका जीवन हिमालय की भाँति उत्तुङ्ग, धवल और निर्मल है और साधकों के लिए अतिशय स्पृहणीय और आदर्श है।

विजया कुमारी किसी महासतीजी का उपदेश सुनकर विषयों से उदासीन हो गई। उसने कहा—सतीजी, मैं आजीवन ब्रह्मचारिणी रह कर दीक्षा का पालन करना चाहती हूँ। मैं माता-पिता की आज्ञा लेने का प्रयत्न करूँगी। किन्तु आजीवन प्रतिमास के शुक्लपक्ष में ब्रह्मचर्य पालने का त्याग तो अभी करा ही दीजिए। इस जीवन का क्या भरोसा है! अभी है और अभी नहीं है! कौन जाने अगले क्षण क्या होगा?

साध्वीजी ने उसे शुक्लपक्ष में ब्रह्मचर्य-पालन की प्रतिज्ञा

करा दी। फिर वह अपने घर आई और साध्वी बनने की आज्ञा माँगी। लड़की के विचार सुनकर माता ने अपने पति से कहा—झटपट लड़की की सगाई कर दो, नहीं तो वह हाथ से निकल जाएगी।

विजया का पिता वर की तलाश करने निकला। संयोग से उसी नगर में एक सुशील लड़का था। उसने मुनिराज का उपदेश सुना। मुनिराज ने कहा—जगत् में महान् से महान् धर्म ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य सब तपों में उत्तम तप है। कोई भी तपस्या ब्रह्मचर्य की बराबरी नहीं कर सकती। ब्रह्मचर्य जीवन का प्राण है, जीवन की शक्ति है, आत्मा का अप्रतिहत बल है और परलोक का समर्थ सखा है। ब्रह्मचारी की आत्मा अपूर्व तेज से उद्भासित होने लगती है। उसके चेहरे पर एक अनूठी और सौम्य दीप्ति अठखेलियाँ करने लगती है। ब्रह्मचर्य आयु-वर्धक है और परमशक्तिदाता है।

उस लड़के पर मुनिराज के प्रभावशाली शब्दों का असर पड़ा और उसने कृष्णपक्ष में ब्रह्मचर्य पालन करने की प्रतिज्ञा ले ली। लड़का इतना गंभीर था कि उसने अपनी प्रतिज्ञा का किसी से जिक्र नहीं किया। उसने न तो प्रतिष्ठा पाने के लिए प्रतिज्ञा ली थी और न वाहवाही लूटने के लिए। आत्म-कल्याण की दृष्टि से उसने ब्रह्मचर्य ग्रहण किया था; अतएव किसी पर प्रकट करने की आवश्यकता उसने नहीं समझी।

विजया का पिता वर की तलाश करते-करते उसी लड़के के पास पहुँचा और संयोग की बात कि सगाई पक्की हो गई! लड़के का नाम विजयकुँवर था।

सवार हैं। जो बात तुमने मेरे संबंध में कही है, वही मैं तुम्हारे संबंध में कह सकता हूँ।

विजया—नहीं, ऐसी बात नहीं है। लोक में पुरुष और स्त्री की स्थिति भिन्न-भिन्न प्रकार की मानी जाती है। अतएव आपकी और मेरी स्थिति में अन्तर है।

विजय—हमें लोक का अनुसरण करते हुए भी धर्म को विस्मरण नहीं करना चाहिए। धर्मशास्त्र में नर और नारी के कर्त्तव्यों में कोई भेद नहीं है। शास्त्र में श्रावक के लिए जिन व्रतों का विधान किया गया है, उन्हीं का श्राविका के लिए भी विधान है। जैसे अन्यान्य व्रतों में श्रावक एवं श्राविका के लिए कोई अन्तर नहीं है, उसी प्रकार ब्रह्मचर्य के विषय में भी कोई अन्तर शास्त्रों में दृष्टिगोचर नहीं होता। अन्तर है तो केवल यही कि अणुव्रत धारिणी श्राविका स्वपतिसन्तोषव्रत लेती है और श्रावक स्वपत्नीसन्तोषव्रत। मगर भावना में कुछ भी अन्तर नहीं है। तो फिर धर्मशास्त्र के आदेश पर चलने वाले पुरुष की जो स्थिति है, वही स्त्री की भी है। व्रत का जो बन्धन पुरुष के लिए है, वह स्त्री के लिए भी है और जो स्वतंत्रता पुरुष के लिए है वही स्त्री के लिए भी है।

विजया—शास्त्र की बात आप मुझसे अधिक समझते हैं। परन्तु व्यवहार में स्त्री-पुरुष को समान स्वतंत्रता नहीं प्राप्त है!

विजय—व्यवहार परमार्थभूत नहीं, धर्म परमार्थभूत है। अतएव हमें उसी को प्रधान रूप से अनुसरण करना चाहिए।

विजया—तो फिर आपका अभिप्राय क्या है ? आप भविष्य के संबंध में क्या सोचते हैं ?

विजय—कहा तो सही कि जो तुम्हारा भविष्य, वही मेरा भविष्य !

विजया—अर्थात् ?

विजय—अर्थात् जिस प्रकार तुम आजीवन ब्रह्मचारिणी रहोगी, उसी प्रकार मैं भी आजीवन ब्रह्मचारी रहूँगा। तुम पतिव्रता हो तो क्या मैं पत्नीव्रती नहीं हो सकता ? पुरुषत्व के विशेषाधिकार को शास्त्र नहीं मानता और दुनिया मानती है तो भी वह भोगों के कीचड़ में फँसने के लिए नहीं होना चाहिए।

विजया—आपकी यह प्रतिज्ञा छिपी नहीं रहेगी। वह प्रकट हो जायगी और जब प्रकट हो जायगी तो माता-पिता नाराज़ होंगे !

विजय—प्रथम तो प्रकट होगी ही नहीं; कदाचित् प्रकट हो गई तो उसी दिन हम दोनों दीक्षा ले लेंगे !

बस, विवाह के प्रथम दिन से ही विजय और विजया ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए, भाई-बहिन की सी पवित्र भावना के साथ अपना जीवन यापन करते हैं। एक ही शय्या पर सोते हुए भी दुर्धर ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए बारह वर्ष व्यतीत हो गए ! धन्य है ऐसे नर और नारी ! कहाँ तक उनकी प्रशंसा की जाय ? उनकी प्रशंसा के लिए भाषा में कोई शब्द नहीं है !

एक वार विमल तीर्थंकर के सामने ब्रह्मचर्य के संबंध में चर्चा चली। तीर्थंकर भगवान् ने ब्रह्मचर्य की महिमा का प्रतिपादन किया। तब किसी ने पूछा—प्रभो! क्या आज भी ऐसे ब्रह्मचर्य का पालन करने वाले मौजूद हैं? इस प्रश्न के उत्तर में तीर्थङ्कर देव ने बतलाया कि कच्छ देश में विजय और विजया एक शय्या पर शयन करते हुए भी अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे हैं!

श्रोताओं को आश्चर्य हुआ और उस ब्रह्मचारी युगल के प्रति हृदय में असीम श्रद्धा उमड़ी। उनमें से कइयों ने उनके दर्शन करने की इच्छा की। वे कच्छ के लिए रवाना हुए और पूछते-पूछते विजय के पिता के पास पहुँचे। वहाँ पहुँच कर सेठ से पूछा—आपके कुँवर कहाँ हैं? हम उनके दर्शन के लिए आये हैं।

सेठ ने कहा—आये हैं,तो स्वागत है; परन्तु मेरा लड़का क्या साधु है जो आप दर्शन करने आये हैं?

आगन्तुकों ने कहा—वह साधु नहीं, महान् पुरुष हैं। ब्रह्मचर्य की साधना में। बड़े से बड़े साधु से तनिक भी हीन नहीं हैं!

सेठजी को कुछ पता नहीं था। बात उनकी समझ में नहीं आई। तब आने वालों ने विमल भगवान् से सुना हुआ वृत्तान्त उन्हें बतलाया और कुमार के दर्शन करने की फिर अपनी अभिलाषा प्रकट की।

जो भेद बारह वर्ष से अप्रकट था, वह आज प्रकट हो गया। इस भेद के प्रकट होने पर विजय के माता-पिता की मानसिक स्थिति कुछ विलक्षण-सी हुई। एक तरफ हर्ष और गौरव से वे प्रसन्न हुए और दूसरी तरफ उन्हें विषाद-का भी अनुभव हुआ।

उसी समय सेठ ने अपने पुत्र विजय को बुलाया और कहा-वत्स, तुम अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन कर रहे हो? हमें तो पता ही नहीं चल सका! बतलाना तो चाहिए था!

विजय मौन रहा। थोड़ी देर के बाद उसने कहा-पिताजी, हम दोनों अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार आज ही दीक्षा ग्रहण करेंगे!!

भाइयो! कितना महान् जीवन है? कितना ऊँचा आदर्श है? भारत को छोड़कर इतना उच्चतर आदर्श अन्यत्र कहाँ मिलेगा? जिनशासन के सिवाय ऐसे पवित्र उदाहरण अन्यत्र मिलना मुश्किल हैं! इन उदाहरणों से तुम क्या लाभ उठाओगे? इतना ध्यान रखना कि तुम्हारी यौवन की गाड़ी किसी झाड़ी में न फँस जाय!

याद रक्खो यह शरीर-जो आज तुम्हें भोग का साधन मालूम होता है-योग का परम साधन है! इसी शरीर से महान् पुरुषों ने मुक्तिलाभ किया है। यह देवदुर्लभ शरीर अतिशय पुण्यप्रकर्ष से तुम्हें प्राप्त हुआ है। इससे पूरा लाभ उठाओ। आत्मा का कल्याण करो भगवान् के आदेश पर चलो। प्रभु की आज्ञा को अन्तःकरण से अंगीकार करके चलोगे तो अक्षय कल्याण होगा। परमात्मा द्वारा प्रदर्शित पथ पर चलना ही

मंगलमय मुहूर्त्त में, धूमधाम के साथ, दोनों का विवाह सम्पन्न हो गया। विवाह के अनन्तर विजया कुमारी अपनी ससुराल आई। उसने सास को प्रणाम किया और सासू ने अपनी प्यारी पुत्रवधू को छाती से लगाकर शुभाशीर्वाद दिया!

रात्रि का समय हुआ। विजया सोलहों शृंगार सज कर शयनगृह में आई और विजयकुँवर भी आ पहुँचा। समयोचित वार्त्तालाप के पश्चात् विजयकुँवर ने कहा-प्रिये! क्षमा करना। मैंने कृष्णपक्ष में ब्रह्मचर्य पालन करने की प्रतिज्ञा ली है। कृष्ण-पक्ष के सिर्फ तीन दिन शेष हैं! तब तक हमें मर्यादापूर्वक ही रहना होगा।

विजयकुँवर की बात सुनकर विजया की आँखें नीची हो गई। उसके चेहरे पर एक विचित्र प्रकार की उदासीनता झलक उठी। वह गहरे सोच-विचार में डूब गई!

विजयकुँवर को विजया की भाव-भंगी समझने में जरा भी विलम्ब नहीं लगा। उसने कहा—प्रिये! सिर्फ तीन ही दिन तो शेष हैं। इन तीन दिनों के लिए इतनी उदासी क्यों? तुम इतनी गंभीर क्यों हो गई हो? चुटकियों में दिन निकल जाएँगे!

अब विजया ने भेद खोल देने के अभिप्राय से कहा-प्राण-नाथ, मेरी बात सुनो। मैंने अपने माता-पिता से साध्वी बनने की आज्ञा प्राप्त करनी चाही थी। आपके सामने मैं सच्ची-सच्ची बात कहती हूँ। विवाह करने की मेरी इच्छा नहीं थी। भोगों के प्रति मुझे अरुचि थी। किन्तु माता-पिता ने मुझे अनुमति नहीं दी और मेरा विवाह कर दिया।

विजय—हाँ, फिर क्या हुआ ?

विजया—किन्तु विवाह से पहले और दीक्षा लेने की अनुमति माँगने से पहले ही मैंने शुक्लपक्ष में ब्रह्मचर्य पालने की प्रतिज्ञा ले ली थी और वह प्रतिज्ञा मेरी आज भी कायम है।

भाइयो ! कितनी भारी बात है ? उगती हुई जवानी में इस प्रकार की पवित्र मनोभावना होना साधारण बात नहीं है। मन पर ऐसा नियंत्रण पा लेना एक महान् आदर्श है। सचमुच ऐसे जितेन्द्रिय नर-नारी मानवजाति की सुप्त चेतना को जागृत करने वाले और जिनशासन के महत्त्व की वृद्धि करने वाले हैं !

अधिकांश लोग यौवन की आंधी में उड़ जाते हैं और उचित तथा अनुचित का भान भूल जाते हैं। परनारी की ओर लोलुपता की दृष्टि डालने वाले कामुक व्यक्तियों को इस आदर्श दम्पती से शिक्षा लेनी है। जिनके पूर्वज ऐसे महान् दुर्धरव्रती हो गये हैं, उन्हें क्या विषयों की कीचड़ में फँसना शोभा देता है ? कम से कम परनारी को तो माँ-बहिन के सदृश समझना चाहिए।

हाँ, तो विजया बोली—नाथ ! मेरी शुक्ल पक्ष में और आपकी कृष्णपक्ष में ब्रह्मचर्य पालने की प्रतिज्ञा है। अतएव स्पष्ट है कि मेरे साथ विवाह होने पर भी आपके सांसारिक सुखों की पूर्त्ति नहीं हो सकती। इसके लिए आपको द्वितीय विवाह करना होगा। आप प्रसन्नता के साथ ऐसा कर सकते हैं; बल्कि मेरा अनुरोध है कि आप ऐसा करें। मेरी ओर से कोई अड़चन नहीं आएगी।

विजय—मगर तुम और हम तो एक ही नौका पर

परमात्मा की सच्ची आराधना है ! इसी पथ पर चल कर अनन्त जीवों ने अपना कल्याण किया है और जो इस पथ पर चलेंगे, उन्हीं का कल्याण होगा !*

५-१-४६
पाली

*दिवाकरजी महाराज की अपूर्व ओजभरी वाणी सुनकर आज एक दम्पती ने जीवन भर के लिए ब्रह्मचर्य व्रत अङ्गीकार किया।